नवयुवक-हृदय-हार — १

स्वर्गीय अश्विनीकुमारदत्त-लिखित

प्रेम

अविकल अनुवाद

अनुवादक
श्रीरामवृक्षशर्मा बेनीपुरी
'बालक'-सम्पादक

प्रकाशक
हिन्दी-पुस्तक-भंडार
लहेरियासराय



दो शब्द

आजकल हमारे नवयुवकों में—विशेषतः स्कूल-कालेज के छात्रों में—किस प्रकार आचार भ्रष्टता फैल रही है, वह किसी से छिपी नहीं है। दुःख की मात्रा तो तब और भी बढ़ जाती है, जब हम किसी बुरे पदार्थ को अच्छा पदार्थ कहकर ग्रहण करते हैं। आज 'प्रेम' के नाम पर 'काम, मोह' बिक रहे हैं। ऐसे दिव्य शब्द का, कुत्सित काम-वासना के समान-अर्थ में, व्यवहार हो रहा है। कैसी शोचनीय अवस्था है!

अश्विनी बाबू की यह 'प्रेम'-नामक पुस्तिका नवयुवकों की इसी आचार-भ्रष्टता, इसी काम वासना, इसी मोहान्धता को दूर करने के लिए प्रकाशित की गई थी। जो स्वयं प्रेमी हो, वही 'प्रेम' का उपदेश कर सकता है—जो संयमी हो, वही लोगों को संयम सिखा सकता है। अश्विनी बाबू इस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त पात्र थे। इसका परिचय इस पुस्तक में दी गई उनकी जीवनी से ही प्राप्त होगा।

पुस्तक का विषय-प्रतिपादन कैसा है—इसके विषय में मैं क्या कहूँ? मुझे इस पुस्तक को पढ़कर कितनी शान्ति मिली है, उसे अन्तरात्मा ही जानती है—लौह-लेखनी उसे लिख नहीं सकती। पुस्तक पढ़ते समय, मालूम पड़ता है, उस प्रेम-स्वरूप का प्रेम दूत अपनी प्रेम-वाणी में स्वर्ग से प्रेम का 'सम्मन' पढ़ रहा है—प्रेम-भगीरथ स्वर्गीय प्रेम-मंदाकिनी की धवल धारा को इस धराधाम

प्रेम

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥
प्रेम-प्रेम सब कोइ कहै, प्रेम न चीन्हे कोय।
आठ पहर भीना रहे, प्रेम कहावै सोय॥
प्रीतम को पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होय बिदेस।
तन मे, मन में, नैन में, ताको कहा सँदेस॥
कबिरा प्याला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय।
रोम-रोम मे रमि रहा, और अमल क्या खाय॥
जहाँ प्रेम तहँ नेम नहिं, तहाँ न बुधि व्यौहार।
प्रेम-मगन जब मन भया, कौन गिनै तिथि बार॥
प्रेम छिपाये ना छिपै, जा घट परघट होय।
जोपै मुख बोलै नहीं, नैन देत है रोय॥
जो घट प्रेम न संचरे, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिनु प्रान॥

—कबीर

नवयुवक-हृदय-हार की कुछ और पुस्तकें

अश्विनीकुमारदत्त

[जीवनी]

इस घोर कलियुग में, इस बीसवीं सदी के विषाक्त वायु मण्डल में, इस शरीर-वाद और विलासिता के जमाने में, भीष्म-पितामह के समान अखण्ड ब्रह्मचर्य से जीवन बिताना, एम० ए० की उच्च डिग्री' प्राप्त करके भी लोक-सेवा में अपना तन-मन अर्पण कर देना. पितृ-सञ्चित धन को भी जन-साधारण के लिए उत्सर्ग कर देना, पीड़ित प्राणियों का मल मूत्र तक अपने हाथों साफ करना, तथा अछूत कहे जानेवाले भंगी को भी दौड़कर गले लगा लेना क्या सम्भव है—क्या ऐसा हो सकता है ? यद्यपि मस्तिष्क स्वीकार नहीं करता, दिल कबूल नहीं करता, तथापि घटना सत्य है, और उतनी ही सत्य

पाठ करना, उनकी पुस्तकों का अध्ययन करना तथा उन्हीं को आदर्श मानकर अपना जीवन गठित करना, अत्यन्त आवश्यक है—निहायत जरूरी है।

वह बंगाली थे। उनका जन्म 'वरिसाल'-जिले के 'पटुआखाली'-मुहकमे में, १८५६ ई० में, हुआ था। उनके पिता श्रीव्रजमोहनदत्त 'जज' थे—बड़े ही शिक्षानुरागी थे। माता भी अत्यन्त धर्मनिष्ठ एवं उदारचेता थीं। अपने माता-पिता के चरित्र का पूरा प्रभाव उनके चरित्र-गठन पर पड़ा था। लड़कपन ही से उनकी प्रवृत्ति बड़ी धार्मिक थी।

पढ़ने में वह बड़े तेज थे। परीक्षा पास करने के लिए पुस्तकों को तोते की तरह रटना उन्हें पसन्द नहीं था। पाठ्य विषय को ध्यानपूर्वक अध्ययन करना ही उन्हें भाता था। फलतः तेरह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने एंट्रेंस पास कर लिया। अवस्था बहुत छोटी होने से विश्वविद्यालय ने, नियम के अनुसार, कई बरस तक, उन्हें बी० ए० की परीक्षा

नहीं देने दिया। फिर भी, केवल चौबीस वर्ष की अवस्था में ही, उन्होंने एम० ए० और बी० एल०—दोनों—उपाधियाँ प्राप्त कर लीं।

बी० एल० होने पर वह कुछ दिनों तक वकालत करते रहे। किन्तु उस पेशे से उनको झूठ और फरेब का दौरदौरा दीख पड़ा। इसी बीच सरकार ने उन्हें डिप्टी-मैजिस्ट्रेट बनाना चाहा; पर उनके स्वतंत्र-प्रकृति पिता ने अपने होनहार पुत्र को नौकरी के जाल में फँसाना उचित नहीं समझा।

बचपन ही से वह प्रेम के पुजारी थे, पूरे सौंदर्यो-पासक थे। किन्तु उनका प्रेम और उनकी सौंदर्यो-पासना कैसी थी, इसका परिचय इस पुस्तक के पढ़ने से ही होगा।

युवकों के तो वह एकान्त मित्र थे। छात्रों पर ही देश की उन्नति का दारमदार है, इनको ध्यान में रखकर उन्होंने बरिसाल में अपने पिता के नाम पर 'ब्रजमोहन विद्यालय' नामक एक कालेज खोला। इसी विद्यालय द्वारा युवकों का संगठन करने में

इनका सारा जीवन बीता। यह विद्यालय लड़कों को केवल पास कराने का यंत्र मात्र नहीं है, बल्कि इसका प्रधान उद्देश रखा गया है—बालकों का आध्यात्मिक, नैतिक, मानसिक और शारीरिक विकास। इसमें जितने अध्यापक काम करते आये हैं, प्रायः सभी स्वावलम्बी और संतोषी—अल्प वेतन में ही सन्तुष्ट रहनेवाले।

इस विद्यालय के लिए उन्होंने लाखों रुपये खर्च किये होंगे। सरकार ने कई बार चाहा कि इसे सरकारी सहायता दें, किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया। एक बार सरकार को सन्देह हो गया था कि हो न हो इस विद्यालय में कोई षड्यंत्र रचा जाता है। अतएव, उसने दो साहबों को इसकी आन्तरिक दशा के निरीक्षण के लिए नियुक्त किया था। उनमें से एक साहब इसे देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने लिखा था—"ब्रजमोहन-विद्यालय-जैसा उत्कृष्ट विद्यालय होने पर भी यहाँ के लोग आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज क्यों जाते है, मैं यह समझ नहीं सकता।"

सबसे बड़ी बात यह कि वह आजन्म ब्रह्मचारी रहे—विवाह ही नहीं किया। भला, जिसने अपना जीवन देश के लिए उत्सर्ग किया, उसके लिए फिर विवाह कैसा ? वस्तुतः उनका चरित्र उज्ज्वलतम था। उसमें कहीं भी एक काला छींटा नहीं पड़ा था। किन्तु निर्मल-चरित्र होने पर भी वह दुश्चरित्रों के साथ रहने में तनिक नहीं हिचकते थे क्योंकि उन्हें पापी से कभी घृणा नहीं थी, घृणा थी तो पाप से। तभी तो उनके संसर्ग से कितने दुश्चरित्र और पापी भी सदाचारी और धार्मिक बन गये।

लड़कों को वह बड़ा प्यार करते थे। सदा उनके साथ ही हँसते-बोलते और खेलते-कूदते। जब बी० ए० पास कर एक स्कूल के हेडमास्टर बने तब भी लड़कों को साथ लेकर जंगल-जंगल घूमते, नाव पर दरियाई सैर को जाते, और उनके साथ हँसते-बोलते थे।

इस पर एक आदमी ने उनसे पूछा—"महाशय, आप लड़कों को लेकर इस प्रकार हँसी-विनोद, आमोद-आह्लाद करते हैं; क्या यह अच्छा है ?"

उन्होने छूटते ही उत्तर दिया -"मैं लड़कों के साथ इसलिए इतना घुला-मिला रहता हूँ कि उनके चरित्र मे किसी प्रकार का पाप स्पर्श न करे। विशुद्ध आमोद का पथ उन्मुक्त न रहने से लड़के कुसंसर्ग मे पड़कर अपना जीवन नष्ट कर देंगे।"

बालक और युवक ही उनके जीवन के मुख्य लक्ष्य और कार्य थे। वास्तव में वह नवयुवको के एक ईश्वर-प्रेषित आचार्य (born teacher of youths) थे; और छात्रो ही द्वारा उनकी ख्याति, प्रतिपत्ति तथा प्रभाव वंग-देश एवं भारत में फैल गया।

सेवा की तो वह साक्षात् प्रतिमा थे। उन्होंने हैजे के रोगी के मल-मूत्र तक को अपने हाथ से साफ किया था। कई बार अपनी जान को जोखिम में डाल-कर भी असहायों की सेवा की थी। बंगाल में जहाँ कहीं अकाल या जल-प्लावन का कष्ट होता था, वहाँ अपने नवयुवक साथियों को लेकर पहुँच जाते थे। उनका जीवन ही मानों विश्व-प्रेम से परिप्लावित था। मेहतर-चमार भी उनके प्रेम से वंचित नहीं

थे। एक बार तो उन्होंने अपने पाखाना साफ करने वाले 'गुलाब' नामक मेहतर को छाती से लगा लिया था।

वह सौंदर्योपासक भी थे, पर तड़क-भड़क से दूर रहते थे। सदा सादा ही पोशाक पहनते थे। एक बार उन्होंने एक छात्र को इसी लिए अपने कालेज से निकाल दिया था कि वह सदा बन-ठनकर आता था। कई वर्षों के बाद उसी छात्र ने पुनः उनसे भेंट होने पर उनकी इस 'कृपा' के लिए उन्हे धन्यवाद दिया था। उसने उसी दिन से बन ठन छोड़ दी थी।

उनकी इन सेवाओं का प्रभाव भी जनता पर बहुत पड़ा। 'बरिसाल' के लोग तो उन्हें साक्षात देवता समझते थे। जब किसी असाध्य रोगी को डाक्टरी दवा से कुछ लाभ नहीं होता था तो लोग उनकी चरण धूलि रोगी को लगाते थे, और रोगी चंगा हो जाता था। एक दिन, एक बूढ़ा दिहाती उन्हें एक कटहल उपहार देने आया। पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसका कटहल नहीं फलता था, अतएव उसने

मन्नत मानी थी कि यदि कटहल फलेगा, तो पहला फल अश्विनी बाबू को भेंट करूँगा। धन्य! जब महात्मा गाँधी बंगाल गये थे, तो स्वयं उनसे मिलने के लिए उनके घर गये थे।

आजन्म ब्रह्मचारी रहने, विशेष संयम और नियम रखने पर भी, कठिन परिश्रम के कारण, उनको बहुमूत्र रोग हो गया था। इस दारुण रोग से उनका स्वास्थ्य गिर गया था। वह चिकित्सा के लिए कलकत्ते आये थे। वहीं १९२३ ई० के नवम्बर में वह प्रेमलोक को सिधार गये। उस समय उनकी अवस्था ६७ वर्ष की थी। सुनते हैं, लोकमान्य तिलक को भी इसी रोग की शिकायत थी।

'ब्रजमोहन-विद्यालय' में ही 'बांधव-समिति' (मित्र-मंडल) नामक एक नवयुवकों की सभा है। उसकी पताका पर—'सत्य, प्रेम, पवित्रता'—यही मूल-मंत्र लिखा है। उस सभा का अधिवेशन प्रत्येक शनिवार की संध्या को होता है। उस अधिवेशन में किसी विश्व-व्यापक विषय पर नियमित रूप से

व्याख्यान दिया जाता है। यह 'प्रेम' इसी सभा में दी गई अश्विनी बाबू की एक व्याख्यान माला है।

जाको लहि कछु लहन की
चाह न हिय मे होय।
जयति जगत पावन करन
'प्रेम' वरन यह दोय ॥
—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

प्रेम

प्रस्तावना

(११ भाद्र १३०० फ़सली)

बान्धव-समिति की पताका पर जो मंत्र अंकित है, उसके द्वितीय शब्द के सम्बन्ध में कुछ कहूँगा। युवकों के निकट प्रेम के सम्बन्ध मे कुछ कहना आवश्यक है। आजकल बाजार में 'प्रेम' नाम देकर शैतान अनिष्टकर पदार्थों का विक्रय कर रहा है। युवकगण अनजाने उसे क्रय करते हैं। उसके नाम पर काम और मोह बिक रहे हैं। युवकों को सावधान करने के लिए ही इस विषय की अवतारणा की गई है।

प्रकृत प्रेम जगत् का सार है—अमूल्य

पदार्थ है। वह स्वर्ग से प्रेरित होता है पृथ्वी को भी स्वर्ग बनाने के लिए। स्वयं प्रेम-स्वरूप परमात्मा उसकी प्रेरणा करते हैं। मैं या तुम उसे चेष्टा करके भी नहीं ला सकते। बाजार में वह पाया नहीं जाता। दिव्यधाम की सामग्री दिव्यधाम से प्रेरित होती है—मनुष्यों को दिव्यधाम ले जाती है।

प्रेम पर ही पृथ्वी टिकी है। उसी के कारण वायु बहती है, उसी से जल बरसता है, उसी से खेती-बारी होती है, वही हम लोगों का आहार है। तुम, मैं—सभी उसी के गोलोक में बसते हैं, तथापि वह क्या है, नहीं जानते—जानना सहल भी नहीं। जिनके चरणों से पतितपावनी प्रेम-गंगा की उत्पत्ति है, उनके विषय में बिना कुछ जाने 'प्रेम' का रहस्य कैसे जान सकते हो?

जहाँ भगवान में अनुराग नहीं, वहाँ प्रेम टिक नहीं सकता। उसकी भित्ति—नींव—भग-

वान हैं। युवको! अनुसन्धान कर देखो, तुम्हारे प्रेम के मूल में—भित्ति मे—भगवान है या नहीं ? जिस पर तुम प्रेम रखते हो, उसके साथ भगवान और उनकी विधि के सम्बन्ध मे वार्त्तालाप करने की इच्छा होती है कि नहीं ? पवित्रता-संचय के लिए परस्पर-साहाय्य करते हो कि नही ?

जहाँ पवित्रता नहीं, वहाँ प्रेम नहीं। उस प्रेम-स्वरूप की सत्ता पवित्रतामय है। इसलिए, पवित्रता बिना प्रेम सम्भव नहीं। जिससें पृथ्वी का कोई भी कलंक लगा हो, वह कभी प्रेम नहीं कहा जा सकता।

आजकल प्रायः देखता हूँ कि युवक कलंकित मोह और काम को आश्रय दे उसे 'प्रेम' के नाम से पुकारते है। शैतान के छलावे में आकर ही वे ऐसा करते है। शैतान का तो काम ही यही है—खरा माल कहकर खोटा माल खपाना। प्रेम

के नाम पर—दाम्पत्य प्रेम, बन्धुत्व, भ्रातृस्नेह आदि-आदि सुन्दर-सुन्दर नाम देकर—वह काम अथवा मोह उपस्थित करता है। मूर्ख युवक, अनजाने, उसे आह्लाद से आनन्द-विभोर होकर—ग्रहण करते है।

खरे माल और खोटे माल मे क्या भेद है, इसे तुम्हे समझाना हमारा कर्त्तव्य है। खरे माल मे प्रेम-राज्य के राजा—उस प्रेम-स्वरूप परमात्मा—की मुहर लगी रहती है। जिसमें उसकी मुहर न देखो, सावधान, उसे कभी ग्रहण न करना। स्वर्ग के प्रत्येक पदार्थ में उस ईश्वर की मुहर, ज्वलन्त अक्षरो से, लगी पाओगे। किन्तु शैतान तो एक धूर्त ठहरा—वह उसकी भी नकल कर लेता है। पवित्रता का नाम देकर अपवित्रता सामने लाता है। किन्तु साव-धानी से एक तीक्ष्ण दृष्टि निक्षेप करके परीक्षा करते ही काला दाग साफ दृष्टिगोचर होगा।

यही दाग क्रम से विस्तृत होते-होते समस्त जीवन को ढँक लेता है, और अन्त मे जिसने इसे सादर अपनाया, उसकी मृत्यु तक ला उपस्थित करता है। तुममे से प्रत्येक को अपने जीवन की रक्षा के लिए यह उचित है कि भलीभाँति—इधर-उधर उलट-पलटकर—देख लो कि तुम्हारे प्रेम मे यह काला दाग तो कहीं नहीं छिपा हुआ है। यदि है, तो समझो कि तुम धोखे से शैतान का माल ले चुके हो। बस, फौरन चिल्ला उठो—सर्वनाश! और अत्यन्त कातर स्वर मे उस प्रेम-राज्य के अधिपति के निकट प्रार्थना करो—हे भगवन्, रक्षा करो! रक्षा करो!! इस पापपूर्ण प्रेम को दूर करो, और अपना पवित्रतांकित प्रकृत प्रेम प्रदान करके इस दास को कृतार्थ करो!!!

प्रार्थना करते-करते शैतान का माल नष्ट होगा, प्रकृत प्रेम प्राप्त होगा, प्राण-मन जुड़ायगा और जीवन धन्य होगा।

तुम जिससे प्रेम करते हो, एक बार उसकी ओर गौर से देखो। उसके मुख को देखने से तुम्हें भगवान् स्मरण हो आते हैं या नहीं। मैं तुमसे क्रमशः प्रेम का लक्षण और उसकी साधना के उपाय भी बतलाऊँगा। आज केवल इतना ही कहना है कि सदा-सर्वदा प्रेम के सम्बन्ध में आत्मपरीक्षा करो। तुम्हारा प्रेमी तुम्हारा आत्म-संयम नष्ट करता है कि नहीं? कर्तव्य-कर्म करने की इच्छा कम कर देता है कि नहीं? उसके मिलन और विरह में प्राण विशेष रूप से चंचल होते है कि नही? उसको लेकर तरल आमोद करने की इच्छा होती है कि नही? जो तुम्हें प्यार करता है, वही यदि दूसरे को भी प्यार करता है, तो तुम्हारे मन मे ईर्षा का उदय होता है कि नही? यदि देखो कि आत्मसंयम नष्ट होता है, कर्तव्य-कार्य में व्याघात पड़ता है, तरल आमोद करने की इच्छा होती है, ईर्षा

का उदय होता है, तब जानो कि तुम्हारा यह कलंकित प्रेम 'प्रकृत प्रेम' नहीं। जिससे यह कलंक दूर हो, उसके लिए चेष्टा करो और अपने ऊपर शासन—आत्मदमन—करो।

उपसंहार में पुनः कहता हूँ कि जिस प्रेम में आदि से अन्त तक—अंग-प्रत्यंग मे—पवित्रता कूट-कूटकर न भरी हो, वह प्रेम कुछ नहीं है—उसका मूल्य एक पैसा भी नहीं। वल्कि प्रेम-शून्य रहो तो अच्छा; किन्तु अपवित्र प्रेम का कभी हृदय में स्थान न दो। इस मोह-मदिरा को पान कर अनेक युवक चरित्र-भ्रष्ट हो गये। क्लास मे अच्छा विद्यार्थी समझा जाता था, किन्तु दिन-दिन मन्द होते-होते अन्त में नष्ट हो गया। किसी के प्राण तरल आमोद में यों निमग्न हो गये कि उसमें गम्भीर विषय पर आलोचना करने की शक्ति ही न रह गई—मस्तिष्क दुर्वल हो चला। अन्त मे आजीवन के

लिए अकर्मण्य बन बैठा। किसी ने ईर्षा की अग्नि में दग्ध होकर अपने शरीर और मन को खाक बना लिया। बीज अंकुरित हुआ, क्रमश एक-दो पत्ते दिखाई दिये, माली आनन्द मे फूल उठा! यह वृक्ष बड़ा होगा, शत-शत व्यक्ति इसकी छाया का उपभोग कर शीतल होगे; किन्तु हाय! दो दिन बीतते-न-बीतते एक कीट उसमे घुस गया! देखते-ही-देखते पत्ते झड़ गये, क्षुद्र वृक्ष सदा के लिए सूख गया! एक-एक बालक की प्रतिभा देखकर कितनी बड़ी-बड़ी आशाये की थी—वह दिन-दिन उन्नति का कैसा उज्ज्वल परिचय दे रहा था—शारीरिक, मानसिक और नैतिक बल का कैसा सुन्दर क्रमिक विकास उसमे पाया जाता था! आशा होती थी, एक दिन इस बालक के चरण-तल मे सहस्र-सहस्र संसार-संतप्त जीव आश्रय लेकर प्राण शीतल करेंगे! इसके द्वारा संसार के अशेष मंगल सम्पादित

होंगे। किन्तु किस कुघड़ी मे इस महाकीट ने प्रवेश कर उसके मर्मस्थान में डंक मारा कि बालक मे वह भाव न रह गया। दिन-दिन वह प्रतिभा राहु-ग्रस्त चन्द्र की तरह मलिन होने लगी—प्राण के वह साहस, उद्यम, तेज और शक्ति क्रमशः क्षीण, क्षीणतर, क्षीणतम होते गये—वह उन्नति अवनति में परिणत हो गई—जितनी आशायें थीं, धूल में मिल गईं—उसका जीवन भी मृत्यु के समान हो चला !

तुममे से किसी की भी ऐसी दशा न हो, कोई भी काम या मोह की शृंखलाओं मे आवद्ध हो मृत्युमुख में पतित न हो। इसी लिए बार-बार कहता हूँ कि प्रेम के विषय मे आत्मपरीक्षा करो। शुद्ध पवित्र भगवदनुमोदित प्रेम को चुन लो, और उसके द्वारा जीवन कृतार्थ करो। भगवान् तुम्हारे सहायक हों !

प्रेम के लक्षण

संगीत

प्रेम-सिंधु के अतल सलिल में
अहा ! निमज्ज नहाऊँगा मैं !
डूब-डूबकर, चुभकी देकर
ज्वाला सकल नसाऊँगा मैं !
उसकी तरल तरंग परस कर
प्राणों की क्या गति होती है ?
प्रेमानन्द-मत्त मन होता
सुधि-बुधि निज सुधि-बुधि खोती है !
उस स्वर्गीय तरंग-स्रोत का
मस्त मीन बन जाऊँगा मैं !
प्रेम-सिन्धु के अतल सलिल में
अहा ! निमज्ज नहाऊँगा मैं !

यह संसार असार महा मरु-
भूमि-सदृश निशि-दिन जलता है!
यहाँ वासना की चिनगारी,
नहीं प्रेम की पुष्प-लता है!
फिर क्यों? किसके लिए, कहो,
मैं यहाँ टिकूँ, क्या पाऊँगा मैं?
प्रेम-सिन्धु के अतल सलिल मे
अहा! निमज्ज नहाऊँगा मैं!

हे प्रेमाभिलाषी युवको! यदि प्रेम सीखना चाहते हो, तो उस प्रेम-सागर का जल पान करो। प्रेम क्या है, यह जानने के लिए उस जल का पान करना होगा—उस जल में स्नान करना होगा—तैरना होगा—डुबकियाँ लगानी होंगी। उस सागर से भिन्न अन्य किसी स्थान मे प्रेम मिल नहीं सकता। उसी सागर में डूबो—धँसो—वही जल पीओ। उस सागर में जो जितना

डूबेगा, वह उतना ही प्रेम-तत्व जान सकेगा – उतना ही प्रेम-रत्न संग्रह कर सकेगा। इस स्थान को छोड़कर अन्य कहीं प्रेम नहीं। यहाँ प्रेम ही प्रेम है। बाजार में जो देखते हो, वह प्रेम नहीं। जो प्रेम के अधिष्ठाता हैं - प्रेम जहाँ से निकलता है—उनके निकट प्रेम प्राप्त करो। उनके चरण-तल में भिक्षुक बनकर खड़े होओ—'प्रेम दीजिये, प्रेम दीजिये' कहकर उनके द्वार पर पुकार मचाओ। यदि वे कृपा कर प्रेम दें, तभी तुम प्रेम पा सकते हो। संसार में प्रेम के नाम से काम बिकता है, मोह बिकता है। शुद्ध प्रेम पाने से ही काम दूर होगा। प्रकृत प्रेम के लिए प्रेम-सिंधु में डूबो। इस जल का शरीर से स्पर्श होते ही तुम चारों ओर प्रेम-ही-प्रेम देखोगे—बस केवल प्रेम-ही-प्रेम। स्वर्ग में प्रेम, मर्त्य में प्रेम, आकाश में प्रेम, पृथ्वी में प्रेम—प्रेम कहाँ नहीं है?

पहले ही कह चुका हूँ कि प्रकृत प्रेम स्वर्ग से प्रेरित होता है। वह स्वर्ग की वस्तु है। उस पर स्वर्ग की मुहर लगी रहती है। उस मुहर में क्या-क्या लिखा रहता है, प्रेम के क्या-क्या लक्षण है—अब बताता हूँ।

प्रेम में ये कई भाव अंकित देखोगे—(१)आनन्द, (२) नवीनता, (३) नित्यता,(४) उच्चता, (५) व्यापकता, (६) स्वार्थहीनता।

प्रेम मे बड़ा ही आनन्द है—मधुर रसास्वाद। वह आनन्द पर तैरता है। जो प्रेम-स्वरूप है, वे ही तो आनन्दस्वरूप हैं। 'रसो वैस:' वे रस-स्वरूप है, इसी लिए प्रेम में अखंड आनन्द है। उस आनन्द का शेष नहीं—विराम नहीं। जिससे प्रेम करते हो, उसे देखते ही आनन्द की तरंगें अठखेलियाँ करने लगती हैं—उसके स्मरण से मन में केवल आनन्द-ही-आनन्द छा जाता है—प्राण आनन्द से

पूर्ण हो जाते है ! क्यों नहीं, प्रेमास्पद तो आनन्द की मूर्ति है। प्रेमिका का हृदय सर्वदा आनन्द से पूर्ण रहता है। उसे सुख मे आनन्द है, दुःख में भी आनन्द है। दुःखपूर्ण हृदय के ऊपर प्रेमास्पद के रहने से दुःख कम हो जाता है। जिसने उस प्रेम के अधिष्ठाता के निकट से प्रेम-संग्रह किया है, उसके लिए तो मृत्यु मे भी आनन्द है ! क्यों नही, जो प्रेम-स्वरूप हैं, वे ही तो मृत्यु-विधाता है—आनन्द-स्वरूप है -"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"—आनन्द से ही ये सकल जीव जन्म ग्रहण करते हैं—आनन्द के अव-लम्बन से ही ये जीते हैं, और मृत्यु के बाद आनन्द में ही प्रवेश कर जाते है। सुतरां, 'मृत्यु' प्रेम की लीला है—प्रेम का खेल है। मैं मरता हूँ—आनन्द से आनन्द की ओर

जाता हूँ। मेरा प्रेमी मरता है—प्रेम-स्वरूप की प्रेमाज्ञा पाकर आनन्द से आनन्द की ओर जाता है। फिर दुःख किस लिए? यहाँ आनन्द छोड़कर दूसरी कोई चर्चा नहीं। आनन्दम्! आनन्दम्! जब तक विपद में—दुःख में—मृत्यु में—आनन्द का अनुभव नहीं होता, तब तक प्रेम उत्पन्न नहीं होता। विपद में जब आनन्द हुआ, तभी प्रेम की उत्पत्ति हुई। किसी दुःख से प्रेमिक उद्विग्न नहीं होता। प्रेम का आनन्द-स्रोत उसके हृदय को परिप्लावित करके बह रहा है। दुःख की तप्त वालुका उसमे पड़ते ही शीतल हो जाती है। आज घर में अन्न नहीं, है बला से, प्रेमिक का मुँह कभी उदास नहीं होगा। वह जानता है कि सुख भी प्रेम-स्वरूप के भीतर है, दुःख भी प्रेम-स्वरूप के ही भीतर है। चारो ओर निन्दा का तूफान उठ रहा है—प्रेमास्पद और प्रेमिक दोनो के

विषय में लोग कितनी ही मनगढ़न्त बातें गढ़ रहे हैं, किन्तु प्रेमिक के मन मे दु:ख नही। आखिर सुनते-सुनते वह बोल उठा—

तेरी मेरी दोस्ती लागी,
लोग सब बदनाम किया।
लोग सब को बकने दीजै,
तुमने हमने काम किया॥

"तुमसे हममें बन्धुत्व स्थापित हुआ है। कितने लोग कितनी निन्दा करते हैं। जिनकी जैसी इच्छा हो; कहते चले। हमने तुमने तो एक प्रकृत कार्य ही किया है।"

भगवान् को लक्ष्य कर एक प्रेमिक ने यह बात कही है। प्रत्येक पवित्र प्रेमास्पद को लक्ष्य कर यह कहा जा सकता है। कष्ट में, विपद मे, शोक मे, दु:ख मे—मैं और मेरा प्रेमास्पद भगवान की गोदी मे छिपे बैठे है—प्रेमिक यही मन मे सोचकर आनन्द से क्रीड़ा करता है।

विपत्ति जितनी अधिक होती है, आनन्द भी उतना ही अधिक बढ़ता है। प्रेमिक मयूर है। घन-घटा देखकर वह और भी आनन्द-विभोर होकर नाचने लगता है। विपद में प्रेम का विशेष विकास होता है। तुम मुझसे प्रेम करते हो कि नहीं, इसकी पहचान जितनी विपद के समय में होती है, उतनी अन्य समय नहीं। और, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ कि नहीं, इसकी परीक्षा करने का सुयोग भी तुम्हें अपनी विपद के समय मे ही होता है। ईसामसीह सूली पर चढ़ते समय जैसा प्रेम का निदर्शन दिखा सके, वैसा सुयोग उनके समस्त जीवन में और कभी न आया था। इसी लिए वह मृत्यु के समय में भी अविचालित थे। प्रह्लाद हाथी के पैर-तले पड़कर भी आनन्द से नृत्य करने लगे थे—भगवान से प्रेम करने ही के कारण तो उन्हे हाथी के पैर के नीचे डाल

दिया गया था—भला इस प्रेम का आनन्द छिपा कैसे रहता ?

और, विपद पड़ने ही पर तो मनुष्य सोना बनता है—"यथा सहस्रधाऽभाते न मलं किल काञ्चने"—जिस प्रकार सहस्र बार जलाने पर सोने में मल नहीं रहता, उसी प्रकार सहस्र बार दुःखाग्नि में दग्ध होने पर प्राण में मल नहीं रह जाता। भगवान विपद मे डालकर मलिन सोना भी निर्मल कर लेते है—क्या यह आनन्द का विषय नहीं है ? मेरा प्रेमास्पद निर्मल सोना हो गया है, यह सोचकर किसे आनन्द नहीं होता ? इसी से कहता हूँ कि प्रेमिक के मन मे—सुख मे, दु ख में, सम्पद में, विपद में—सदा आनन्द-लहरी ही उठती रहती है। यदि दुःख में, विपद में, तुम्हारा आनन्द स्थिर नहीं रह सकता, तो मैं समझता हूँ कि रक्त, मांस या स्वार्थ के कुंड के भीतर काम अथवा मोह की कीच

बजबज कर रही है। तुम कहते थे कि प्रेम-सागर से तुम निर्मल, स्वच्छ, शीतल प्रेम ले आये हो, तो तुम्हारा यह कथन मिथ्या था। प्रेम तो इस क्षणस्थायी संसार के सुख-दुःख के भीतर आबद्ध नहीं है। प्रेम तो नित्य है। अनित्य सुख में प्रेम आह्लाद-विभोर नहीं होता। अनित्य दुःख से भी प्रेम के मुख पर हवाइयाँ नहीं उड़तीं। नित्य-प्रेम-स्वरूप के अवलम्बन से प्रेम भी नित्य है।

प्रकृत प्रेम उसी अशरीरी—शरीर-हीन—आत्मा से सम्बन्ध रखता है। वही प्रेम का आश्रय है, शरीर नहीं। आत्मा नित्य है—शाश्वत है, प्रेम भी नित्य है—शाश्वत है। जो प्रेम शरीर के साथ क्रीड़ा करता है, वह प्रेम नहीं—मोह है। तुम साधारण अर्थ में जिसे प्रेम कहते हो, वह प्रेम नहीं—मोह है। जड़ पदार्थ मे प्रेम नहीं टिकता। अस्थि, चर्म, मांस, रुधिर लेकर जहाँ कारबार है, वहाँ प्रेम कहाँ?

मैने एक बालिका-रत्न को देखा है। वह एक आदमी से प्रेम करती थी। वह उसे काका, भैया, बहिन, फूआ—इसी तरह अनेको नाम से पुकारा करती थी। एक दिन, एक व्यक्ति ने उससे पूछा—क्यो री! तुझे पुरुष और स्त्री का कुछ ज्ञान नही है?

बालिका ने उत्तर दिया—क्यो रहेगा? मै जिससे प्रेम करती हूँ, महाशय, बताइये, वह पुरुष है या स्त्री? कहिये, हम लोगो का जो प्रेम-पदार्थ है, वह स्त्री है या पुरुष? वह क्या इस बाहर के शरीर का कोई पदार्थ है?

मै उत्तर सुनकर अवाक्! मैने सोचा, यथार्थ मे इसी ने प्रेम करना सीखा है। मालूम होता है, ऐसी होने के कारण ही वह अत्यन्त अल्प वयस मे ही पृथ्वी से चली गई। उसकी स्मृति से मैं दिव्यानन्द सम्भोग करता हूँ।

जिसे तुम प्रेम कहते हो, वह प्रकृत प्रेम है

या नहीं, इसकी परीक्षा करने के लिए तुम गौर करके देखो कि तुम्हारा प्रेम शरीर से आबद्ध है या नहीं; मृत्यु के बाद भी तुम अपने प्रेमास्पद से इसी प्रकार प्रेम करोगे या नहीं। सोच देखो, उसके विषय में विचारने पर उसकी नाक, मुख, आँख आदि की चिन्ता करते हो या उसके आध्यात्मिक सौंदर्य और नैतिक शक्ति एवं सामर्थ्य के विषय में चिन्ता करते हो। तुम देखो कि आज यदि वह जगत के मंगल के अर्थ—चिर-दिन के लिए—तुमसे बिछुड़ जाय, वह तुम्हें अच्छा मालूम होगा, या जगत के मंगल की ओर से मन हटाकर तुम्हारे वक्षस्थल पर सिर रखे—सर्वदा तुम्हारे साथ प्रेम-कथा कहता रहे, यह अच्छा लगेगा। यदि देखो कि उसके शरीर को वक्षस्थल पर रखने की ओर ही झुकाव अधिक है, तो समझो, 'प्रेम' नाम देकर तुमने मोह का आह्वान किया है, सुधा समझकर विष पान किया है।

महाभारत में विदुला के उपाख्यान में प्रकृत प्रेम का एक सुन्दर दृष्टान्त पाया जाता है। विदुला राजमाता थी। उसके संजय-नामक एक पुत्र था। सिंधुराज के उसका राज्य हरण कर लेने पर संजय भग्नोद्यम होकर विषण्ण-चित्त हो पड़ रहा। विदुला उसकी भर्त्सना करती हुई कहने लगी—तुम वज्राहत मृत के समान इस प्रकार जड़-भाव से क्यों लेटे हुए हो? एक बार उठो तो सही। इस तरह कापुरुष के समान मत पड़े रहो। एक बार अग्नि के सदृश शत्रु के मस्तक पर प्रज्वलित होओ। इस रूप में जीवन धारण करने की अपेक्षा तो मृत्यु ही अच्छी है। यदि पार लगे, तो अपनी वीरता प्रकाश करो, नहीं तो पंचत्व को प्राप्त हो। एक बार अपनी कुल-मर्यादा स्मरण कर हृत राज्य के उद्धार के लिए यत्नशील बनो। परमुखापेक्षी, परपिंडोपजीवी—बनकर निकृष्ट भाव से

जो जीवन-यापन करते हैं, कभी उनका अनु-
गामी न बनो। तुम्हारा अवलम्बन करके सहस्र-
सहस्र व्यक्ति जीवन धारण करें। चारो ओर
लोग जिसके किसी अनुष्ठित सत्कार्य की
कीर्ति-घोषणा नहीं करते, वह केवल मनुष्यों की
संख्या-मात्र बढ़ाने वाला है—उसे स्त्री या पुरुष
कुछ नहीं कहा जा सकता। दान, तपस्या, सत्य
विद्या वा अर्थ-लाभ के सम्बन्ध मे जिसका
यश-वृत्तान्त संकीर्त्तित न हुआ, वह माता का
पुत्र नहीं कहला सकता। जो मनुष्य शास्त्र-
ज्ञान, तपस्या, श्री अथवा विक्रम में अन्य लोगों
का अतिक्रम कर सके, वही यथार्थ पुरुष है।
अतएव, हे संजय, तुम्हें अपना विक्रम प्रदर्शित
करने के लिए यत्नवान होना उचित है। एक बार
प्रज्वलित उल्का-दंड की तरह शत्रुगणों के बीच
में निपतित होओ।

पुत्र ने कहा—यदि मैं युद्ध में पंचत्व प्राप्त

करूँ, तब तुम्हे सुख रहा कहाँ ? मै तुम्हारा प्रिय पुत्र हूँ। मुझे खोकर यदि समूची पृथ्वी का राज्य ही तुम्हे मिले तो, क्या लाभ होगा ?

माता ने कहा—मैं तुम्हारे जीवन-मरण की चिन्ता नहीं करती। इस पृथ्वी में जीवन धारण करना केवल धर्म के लिए है। यदि धर्म ही नष्ट हुआ, तो जीवन का क्या फल ? तुम्हारी यह अवस्था देखकर यदि स्नेह से कातर होकर इसे दूर करने के लिए तुमसे अनुरोध न करूँ, तो मेरा स्नेह 'स्नेह' ही नहीं है। वैसे प्रेम को पंडित लोग सामर्थ्यशून्य गर्दभी-वात्सल्य के नाम से पुकारते हैं मनुष्य का वात्सल्य इस प्रकार मोहपूर्ण नहीं होता।

संजय, माता के इस कथन को सुनकर, उनके आदेश-पालन को बद्ध-परिकर हुआ, और अपने राज्य का उद्धार किया।

इसी का नाम प्रकृत प्रेम है। विदुला का

प्रेम नित्य था। वह प्रेम पुत्र के शरीर का अति-
क्रम कर उसकी आत्मा से सम्बद्ध हो गया
था। सुतरां, पुत्र की मृत्यु से दुःखित होने का
कोई कारण ही नहीं रह गया था। धर्म का
अवलम्बन कर यदि पुत्र मर भी जाता, तो
उसके लिए आनन्द-ही-आनन्द था। प्रेम इसी
साँचे का होना चाहिये। इस प्रकार का प्रेम
इहलोक-परलोक—दोनो—मे समान रूप से
व्यापक है। प्रेमास्पद जायगा कहाँ? तुम्हारे
शरीर के इहलोक-त्याग से क्या हुआ? नित्य
शाश्वत आत्मा जो मेरी थी, वह तो मेरी ही
रही—उसका चुम्बनालिगन करने की क्षमता
मुझसे अपहरण कर ले, ऐसी किसमें सामर्थ्य
है? प्रेमिक इसी भाव से प्राण को पूर्ण कर
आनन्द से नाच उठता है। अविनाशी पर्वत-शृंग
पर जिसने अपनी कुटिया छाई है, वह नीचे
के दो-एक चंचल काले मेघ-खंड का आविर्भाव

और तिरोभाव देखकर विषण्ण क्यों होगा ? वह तो वहाँ नित्य पदार्थ लेकर नृत्य करेगा ।

और, उसमे कैसी नवीनता है । प्रेमास्पद तो नव-नवीन है – नित्य-नूतन है । नूतन-नूतन सौंदर्य मुहूर्त-मुहूर्त में प्रस्फुटित हो रहा है । चन्द्रमा को प्रेम से देखते हो, इसी लिए चन्द्रमा कभी पुराना नहीं दीख पड़ता । क्या किसी ने कभी चन्द्रमा को देखकर ऐसा कहा है कि यह पुराना चन्द्र है – इसे मै पुनः न देखूँगा ? गुलाब क्या कभी पुराना दीख पड़ता है ? प्रत्येक दिन गुलाब देखते-देखते भी क्या कभी ऐसा मन में होता है कि अब गुलाब देखने में अच्छा नहीं लगता ? जो मीठा है, वह सदा नया है । माता के निकट क्या बच्चे का मुख कभी पुरातन होता है ? नहीं – हो नहीं सकता । जिससे प्रेम करता हूँ, वह तो सदा नूतन है; जो प्रेम करता है, वह भी सदा नूतन है । प्रेमास्पद का मुख देख-

कर प्रत्येक दिन प्राण के भीतर कितनी नई-नई भाव-लहरी खेल करती है। मेरा प्रेमास्पद एकाकी बैठकर, शान्त-चित्त हो, अपना कार्य कर रहा है, मैं निर्निमेष होकर देख रहा हूँ, उसके मुख पर कितनी नव-नव सौंदर्य की तरंगें क्रीड़ा कर रही हैं! पचास बरस का बन्धुत्व क्या कभी पुराना पड़ता है भाई? यदि पड़ता है, तो वह बन्धुत्व ही नहीं है—वह है मोह की शृंखला। वह—जितने दिन तक मोह की चमक थी—नूतन लगा; जब चमक नष्ट हुई, पुराना बन गया। प्रकृत सती अपने पति में जीवन, मरण, इहलोक, परलोक—सभी स्थान और सभी अवस्था में नव-नव माधुरी की क्रीड़ायें देखती है। इसी तरह, पिता अपने पुत्र में—शिक्षक अपने छात्र में।

प्रेम जैसा नित्य है, उसी प्रकार नवीन भी है—उच्च भी है। स्वर्ग का उच्चत्व इसी से प्रतिफलित हुआ है। नीचत्व, इतरत्व, प्रेम में पाया

नहीं जा सकता। नीच का - नरक का कुछ भाव आते ही प्रेम उसे दूर कर देता है। प्रेमास्पद के कपड़े तक नीच भावनाओं को दूर कर देते हैं। प्रेम उच्च से उच्चतर की ओर अग्रसर होता है—क्रमशः उच्चतम तक पहुँचकर साथ मिटाता है। जिस प्रेम से मनुष्य उच्च नहीं होता, वह प्रेम 'प्रेम' नहीं है।

दो मित्रों के बीच प्रकृत प्रेम है कि नहीं· इसकी परीक्षा के लिए, देखो कि वे दोनों परस्पर क्रमशः उच्च हो रहे हैं या नहीं - परस्पर के सम्मिलन से क्रमशः दोनों के चरित्र निर्मलतर हो रहे है या नहीं—कर्त्तव्यज्ञान अधिकाधिक प्रस्फुटित हो रहा है या नहीं—आध्यात्मिक चिंतन मधुरतर हो रहा है या नहीं ? यदि नहीं, तो समझो कि दोनों जिसे मित्रता समझते थे· वह मित्रता नहीं—अवनति का सोपान है। उन्हें परस्पर विच्छिन्न कर दो।

प्रेम स्वर्ग की ओर धावमान होता है। इस लिए, जो प्रेम स्वर्ग की ओर अग्रसर नही करता, उसे अपने घर के पाँच कोस के भीतर मत आने दो। यदि देखो, कोई दो आदमी नदी के तीर में गलबाँही दिये बैठे हों—अंटसंट बक रहे हो—स्वर्ग की बात न करते हो– आमोद की कथा मे खूब लीन हो; किन्तु किसी गम्भीर बात के आते ही छटपट करने लगते हों—तो समझो, बस सर्वनाश हुआ—इनकी मृत्यु इन्हें यहाँ बुला लाई है। जहाँ केवल Picnic (वन-भोजन) का ही बन्दोबस्त है, वहाँ प्रेम नहीं। प्रेम के बीच से Picnic के आमोद को बिलग करने का मेरा प्रयोजन नही; किन्तु उसके अन्दर कुछ ऐसा पदार्थ होना चाहिये, जिससे स्वर्ग का चित्र याद पड़े। स्वर्ग में तरलता नहीं। प्रेमिक और प्रेमास्पद हृदय के गम्भीरतम प्रदेश की पवित्र गूढ़तम आकांक्षा को एक दूसरे के निकट प्रकाश

कर परस्पर गलबाँही दिये स्वर्ग-राज्य मे प्रवेश करते हैं। जहाँ ऐसा भाव नहीं, वहाँ प्रेम नहीं।

प्रेम की व्यापकता का अनुमान करते हुए बड़ा आनन्द होता है। वह विश्वव्यापी के निजी कोष का माल ठहरा। अतएव, वह संसार को आच्छादित करने के लिए सदा धावमान है। उसमे क्रमशः विस्तृति है—वह क्रम-क्रम से फैलता है। आज एक आदमी से प्रेम किया: वह एक आदमी और ले आया। बस, दो आदमियों से प्रेम हुआ—मधु के छत्ते की रचना की तैयारी हुई। क्रमशः, और दो-एक आदमी आते-आते कितने आदमी इकट्ठे हुए? एक आदमी, दो आदमी, तीन आदमी, क्रमशः दस आदमी, बीस आदमी, पचास आदमी, सौ आदमी—इसी प्रकार प्रेमास्पद की संख्या बढ़ती चली। प्रेम की चाल जितनी तीव्र होगी, प्रेमिक उतना ही जगत् को सुन्दरतर देखेगा,

और उतना ही अधिक जीवों से प्रेम कर सकेगा। क्रमशः समग्र मानव-मंडली में प्रेम व्याप्त हो जाता है। अवशेष में मानव-राज्य का अतिक्रम करके सजीव, निर्जीव—समस्त पदार्थ में छा जाता है। तब, वह जगन्मय हो जाता है—केवल मधुवर्षण होता है। बुद्धदेव का प्रेम देखो—जगन्मय। चैतन्यदेव का प्रेम देखो—जगन्मय। प्रकृत प्रेमिक सत्य-ही-सत्य देखते हैं—

सुधासिक्त है चन्द्र दिवाकर,
वहती पवन सुधा में हो तर।
नदी वहाती सुधा-स्रोत नित,
सुधावृष्टि कर मेघ सुपुलकित।
सकल चराचर सुधासिक्त है॥

ऐसी अवस्था में जब पहुँचोगे, तब आनन्द की कुछ सीमा न रहेगी। तब जिसे सामने देखोगे, उसे ही आलिंगन करने को दौड़ पड़ोगे। वृक्ष के पत्र-पत्र को चूमने की इच्छा होगी—

मलय-मारुत को गोद में लेकर सोने की साध होगी। तालाब के प्रत्येक जल-बिन्दु को—चन्द्रमा के प्रत्येक किरण-कण को तुम अपने प्राण के भीतर छिपा रखने की चेष्टा करोगे—रास्ते की धूल को हाथ से लेकर विह्वल हो पड़ोगे; पत्थर के अन्दर से सुधा-धारा बहने लगेगी। जिसका परिणाम ऐसा न हो, वह प्रेम नहीं। क्षुद्र सीमा के अन्दर जो बँधा-ढँका है, वह प्रेम नहीं। प्रेम तो कूप के ऐसा नहीं है। वह तो महा-महासागर है—समस्त विश्व को प्राप्त करके भी—और चाहिये, और चाहिये—कह-कर तरंगें उछाल रहा है। विश्व तो ससीम है; किन्तु प्रेम असीम है। उसकी 'और चाहिये' की पूर्ति अनन्त काल में भी नहीं होगी।

युवको, ऐसे ही प्रेम के भिखारी बनो। तुम्हारा प्रेम क्या क्रमशः विस्तृत होता है? तुम राम को जैसा प्यार करते थे, आज श्याम को

भी वैसे ही प्यार करते हो ? जितने मनुष्य है, सबको हृदय मे छिपा रखूँगा—ऐसी इच्छा क्या तुम्हारे मन में घनीभूत होती है ? किसी दूसरे के प्रेम की विस्तृति देखकर क्या सुख होता है ? यदि हॉ, तो यत्नपूर्वक उनकी रक्षा करो। और, जब देखो कि प्रेम के भीतर हिंसा आ रही है—राम तुम्हे जिस प्रकार चाहता है, यदु को भी उसी प्रकार चाहता है और तुम्हारे मन में इससे ईर्षा होती है; केवल तुम्हीं उसके प्राण-धन बने रहो, और कोई उसके हृदय मे स्थान न पावे—यही इच्छा बलवती होती हो, तब अपने प्रेम को पदमर्दित कर अभी फेंक दो। नहीं तो तुम्हारे इसी प्रेम मे सुधा की जगह—तुम्हारे प्राणों के विनाश के लिए गरल पैदा हो जायगा।

Love one, love no more—एक ही आदमी को प्यार करो, एक से अधिक को

नहीं—यह शैतान की उक्ति है। Love all things, both great and small—बड़े-छोटे, समस्त पदार्थों को प्यार करो – यही भगवान का आदेश है। इसलिए love all things—समस्त पदार्थों को प्यार करो। जो जितने परिमाण मे इस प्रकार प्रेम करते हैं, वे उतने ही बड़े साधु हैं। ईसा, गौरांग, बुद्ध, जौन-पाल—सभी देश के सभी साधुओं की यही जप-माला है।

शत्रु को भी प्यार करो, वह क्या तुम्हारे विश्व से अलग है? वह क्या इस प्रेमपूर्ण राज्य में वास नहीं करता? तब फिर शत्रु रहा कहाँ? मैं शत्रुता मे प्रेम की क्रीड़ा देखता हूँ। यह जो उनकी तलवार से विन्दु-विन्दु अमृत चू रहा है, क्या उसे तुम नहीं देखते? शत्रु सत्य है, सत्य ही मित्र है। वह कितने प्रकार से हमारा कितना उपकार-साधन करता है। इस प्रेम के राज्य मे

तुम इच्छा से करो या अनिच्छा से, भला न करके—प्रेम को सहायता न देकर -तुम निव्र-होगे कैसे ? तुम किसके राज्य में वसते हो—कुछ याद है ? तुम सोचते होगे कि वह प्रेम की जड़ मे कुठाराघात कर रहा है; किन्तु यह देखो—इससे विपरीत फल फल रहा है ! वह लाना चाहता है विष, आता है अमृत ! तुम इस विषय में क्या कह सकोगे ? इस अमृत-राज्य मे ऐसा ही होता है। यहूदियो ने सोचा—ईसामसीह के साथ हम ऐसी शत्रुता कर रहे है कि उसका रोपा हुआ वृक्ष किसी प्रकार न फले-फूले। किन्तु, आहा ! हुआ क्या ? उन लोगों की शत्रता मित्रता का काम कर गई। उन लोगो के दवा धरने की चेष्टा करने के कारण आज समस्त पृथ्वी मे ईसा का प्रेम-वृक्ष छा गया है। हिरण्य-कशिपु ने सोचा खूब शत्रुता की है, प्रह्लाद अब प्रेम-पागल न हो सकेगा। हुआ क्या ? क्या करने से

क्या हुआ ! वेचारा हिरण्यकशिपु अवाक् ! वह पागलपन क्रमशः समूचे देश में व्याप गया। इसीलिए कहता हूँ कि साधुओ का शत्रु होना साध्य नहीं है । तुम्हारे घर मे, मेरे घर मे, यह जो आम का उथल-पुथल या शत्रुता है—जिन्हे आँखें है, वे देख सकते है इसी के अन्दर से, मनुष्य जितनी भी चेष्टा करे, भगवान प्रेम उत्पन्न कर देते है। इस जीवन मे भी अनेक वार देखा है कि मनुष्य ने शत्रुता की घोर घन-घटा सजाई —तर्जन-गर्जन होने लगा — भय से प्राण छूटने लगे; किन्तु विधाता की कैसी लीला ! उसी के अन्दर से प्रेम-सौदामिनी चमकने लगी। जव मूसलधार वृष्टि होने लगी, तो शत्रु ने सोचा कि खूव ही बुरी तरह हराया; किन्तु मैं ऐसा हारा कि प्राण के भीतर से ताप, अहंकार, अभिमान, स्वार्थपरता, असावधानता आदि अनेक प्रकार के पाप—त्रुटियाँ दूर हो

गई, हीतल शीतल हुआ, सद्वृत्ति तेजी से वृद्धि पाने लगी। जुग-जुग जीवें मेरे शत्रु! जब देखोगे कि सर्वदा शत्रु को मित्र कहकर उसे छाती से लगा लेने की इच्छा होती है, उसे आलिंगन करने के लिए मन व्यग्र है निस्सं-देह उसके अन्याय का प्रतिवाद करने का निषेध मैं नहीं कर रहा हूँ, वह करना अवश्य कर्त्तव्य है; पुत्र के दुर्वाक्य पर जिस प्रकार शासन करना होगा, शत्रु के दुर्व्यवहार पर भी उसी तरह शासन करना होगा; किन्तु जिस प्रकार शासन करो, उसी प्रकार चुम्बन भी करो—उस को चूमने के लिए प्राण भी व्याकुल होते हों, तभी जानना कि प्रेम परिपक्व हो गया।

प्रेम का सर्वप्रधान धर्म है—स्वार्थ-राहित्य। वह कभी अपनापन नहीं जानता। वह दूसरों के लिए सर्वदा उन्मुक्त है। वह अपने घर में नहीं रहता, दूसरे की सेवा ही उसका जीवन-व्रत है।

और दूसरा कहा ही किसे जाय ? उसका तो सभी कुछ अपना है । स्वार्थपरता और प्रेम परस्पर विरोधी हैं । जहाँ स्वार्थपरता है, वहाँ प्रेम नही—जहाँ प्रेम है, वहाँ स्वार्थपरता नहीं । प्रेम की जितनी वृद्धि होगी, स्वार्थपरता का उतना ही ह्रास होगा । Love varies inversely as selfishness. प्रेमिक प्रेमास्पद के लिए स्वार्थ-त्याग करते हैं । अति क्षुद्र से लेकर अति महान् विषय तक मे प्रेमिक का यही लक्षण देखोगे। सामान्य सुख-स्वच्छन्दता के किसी अकिंचित्-कर पदार्थ के भोग करने के पहले भी प्रेमास्पद का भोग लगना चाहिये । नहीं तो प्रेमिक उसे उपभोग कर नही सकता । इसी प्रकार विषम संकट के समय मे, जब मरुभूमि मे प्राण—अब निकले, तब निकले - कर रहे हो, और जल का ऐसा अभाव हो कि एक आदमी के अतिरिक्त दो आदमी पी नही सकते, उस स्थान मे प्रेमिक

प्रेमास्पद की जीवन-रक्षा पहले करेगा—अपनी पीछे। उस प्राचीन आख्यायिका में मैंने पढ़ा था—पिथियास कहता था, ड्यामन्! तुम रहो, मैं मरता हूँ। ड्यामन् कहता था—नहीं, यह नहीं होगा, मैं ही मरूँगा। ड्यामन् किसी प्रकार पिथियास को मरने नहीं देगा, और पिथियास भी ड्यामन् को किसी तरह नहीं मरने देगा। दोनों ही अपने प्राण देकर अपने बन्धु को बचाने के लिए पागल थे। प्रेमिक का यही लक्षण है।

प्रेमिक चाहता है कि प्रेमास्पद उसके वक्ष-स्थल पर रहे। तो फिर वह स्वयं कहाँ रहा? 'मैं' नीचे, 'प्रिय' ऊपर। याद रखो, प्रेमिक का 'मैं' नीचे रहता है। जब प्रेम ब्रह्माण्ड—व्याप्त हो जाता है, तब समस्त ब्रह्माण्ड ही वक्ष-स्थल के ऊपर रहा और 'मैं' एकदम नीचे पड़ गया। इसी प्रकार जितनी ही प्रेमास्पद की

संख्या बढ़ेगी, उतना ही 'मैं' नीचे पड़ता जायगा। अपना भोग, अपना सुख, अपने प्राण बचाने की इच्छा - कुछ भी, प्रेमास्पद के भोग और सुख तथा प्राण बचाने की इच्छा के ऊपर रह नहीं सकता।

इसी 'बाकरगंज' के किसी स्थान में प्रेम का एक उदाहरण पाया गया है। उसे तुम्हें सुनाता हूँ— एक बारह-तेरह बरस का बालक किसी तेईस-चौबीस बरस के वयस्क युवक को बहुत प्यार करता था। वह युवक उस बालक के घर आया, और वहीं कई दिनो तक ज्वर में बहुत कष्ट पाता रहा। एक दिन, वह उस बालक के घर के बरामदे मे एक तकिया के सहारे बेहोश की तरह पड़ा था। उसी समय एक विषधर सर्प और एक बिल्ली ने उस घर के आँगन में झगड़ना आरम्भ किया। झगड़ते-झगड़ते वह साँप बरामदे पर चढ़ आया और उस युवक की

गरदन के नीचे प्रवेश कर अपना फन फैला कर खड़ा हो गया। युवक के प्राण घोर संकट मे पड़े। वह तो मृतक के समान पड़ा हुआ था। उसकी रक्षा करेगा कौन ? जो पास थे, उनमें किसी को भय-वश अग्रसर होने की हिम्मत न हुई। सबके हृदय काँपने लगे। मुख सूखने लगा। क्या किया जाय, क्या न किया जाय – किसी को कुछ न सूझा - कुछ करने का साहस भी न हुआ। बालक स्नान करने गया था। स्नान से लौट कर उसने यह घटना देखी। देखते ही उसने प्राणों की आशा छोड़, अपने हाथों में अँगोछा लपेटकर, झट साँप का फन दोनों हाथ से जोर से पकड़ लिया। सब-के-सब अवाक् रह गये। स्वर्ग में प्रेम की दुन्दुभी बजने लगी - भगवान उस बालक के मस्तक पर अपने प्रेम की वर्षा करने लगे। अहा ! कैसा मनोहर दृश्य था ! इसी का नाम प्रेम है। युवक जब जागा,

तो अपने बालक-मित्र की अवस्था देखकर सिहर उठा। इसी बीच सर्प बालक के हाथों को लपेटने लगा। बालक ने एक चाव माँगा। बालक का बड़ा भाई निकट ही था—उसने चाव फेंक दिया। उस युवक ने उस चाव से सर्प के शरीर को खंड-खंड काट फेंक दिया। अन्त में बालक ने भी सर्प के मस्तक को दूर फेंक दिया। वही बालक जानता था कि प्रेम किसे कहते हैं। तभी वह अपने मित्र के लिए प्राण देने को प्रस्तुत हो गया—मित्र की विपत्ति देख अपने प्राणों को तृण के समान तुच्छ समझकर सर्प के मस्तक को पकड़ने का साहस किया। धन्य है वह। उसने हमें प्रेम की महिमा बतला दी। उसके भाई को उसके प्रति प्रेम नहीं था—वह चाव देते समय भी उसके निकट नहीं गया—अतएव वह तुच्छ है। पर वह बालक देवता था—प्रेमिक कहलाने के सर्वथा उपयुक्त था। देखा?

स्वार्थ-राहित्य का कैसा ज्वलन्त चित्र है ! एक वार आज निर्जन में बैठकर विचारो, और भगवान से प्रार्थना करो कि वह तुम्हारे हृदय में भी इसी प्रकार के प्रेम की अवतारणा करके तुम्हें कृतार्थ करे।

प्रेम बदला नहीं चाहता। बदला तो चाहता है मोह। कवि कहता है—

'दिया, लिया, बदला भर पाया,
मेटी प्रेम-पिपासा'

यदि वास्तव में प्रेम में विनिमय का भाव आ गया, तो वह "वनिया-वृत्ति" हो गया। प्रकृत प्रेमिक वनिया होना नहीं चाहेगा। वह तो प्रेम करके ही सुखी है। प्रेमास्पद से प्रेम का प्रतिदान पाने के लिए वह व्याकुल नहीं। स्वर्ग इस मर्त्यलोक को प्रतिदिन कितना देता है; किन्तु क्या कभी वह बदला चाहता है? सूर्य और चन्द्रमा अपनी प्रेम-किरणों से पृथ्वी

को रंजित करते हैं; किन्तु क्या वे कभी कहते हैं कि - पृथ्वी ! तुम तो इतना पा चुकी, अब मुझे भी कुछ दे। प्रेमिक तो अपने प्रेम-दान में आप ही पागल बना रहता है। वह देने में ही विभोर है, लेने की बात वह सोचता तक नहीं। 'प्रेम के लिए प्रेम नहीं करूँगा'—प्रेमिक का यही धर्म है। युवको! तुम जिससे प्रेम करते हो, वह भी तुम्हें प्यार करे इसके लिए क्या तुम व्याकुल होते हो ? उसके प्रेम न करने पर क्या तुम्हारे प्रेम में न्यूनता आती है ? यदि हाँ, तो तुम जिसे प्यार करते हो, वह तुम्हारा वास्तविक प्रेम-पात्र नहीं है वह तो तुम्हारे मोह की प्रतिमा है, और तुम मोह-कूप के मंडूक हो—प्रेम-सागर के मस्त मीन नहीं।

प्रेम में गाम्भीर्य है—भयंकरता नहीं, कौतुक है—तरलता नहीं, आवेग है - उद्वेग नहीं, उद्भ्राम है - चंचलता नहीं, शासन है—पेषण

नहीं, विवाद है –विषाद नहीं, अभिमान है—अपमान नहीं।

प्रेम बड़ा ही गम्भीर है—सागर की भाँति अतलस्पर्श है। आधी रात में जब जगत् निस्तब्ध हो जाता है –पृथ्वी के किसी जीव का चूँ-शब्द भी नहीं सुना जाता –वायु बहती नहीं पत्ते हिलते नहीं—ब्रह्माण्ड में एक गम्भीर अनाहत ॐ-नाद उठ रहा है, उसी समय प्रेमिक अपने प्रेमास्पद के ध्यान मे 'निर्वातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्' बना हुआ है। उस समय अपने और अपने प्रेमास्पद के शरीर को भूलकर वह आत्मा की माधुरी का सम्भोग करता है। उस समय बाह्य जगत् धीरे-धीरे उसके मन से बाहर चला जाता है—पृथ्वी उसके निकट जाने का साहस नहीं करती—आकाश, वायु आदि भय से दूर ही खड़े रहते हैं। वह योगी की तरह प्रेमास्पद के आत्मार्णव मे डुबकी लगाये अपने-आपको विभोर बना

लेता है। उस डुबकी में वह कहाँ से कहाँ चला जाता है, यह कौन कह सकता है? कहीं उसके इस कार्य में वाधा न हो, इसी भय से देवगण साँस रोककर इस अनिर्वचनीय आत्म-निमज्जन का निरीक्षण करते हैं। यह गम्भीर महाव्यापार जिसके जीवन मे घटित होता है—जो इस गम्भीर महाव्यापार को अपने जीवन में साधता है—उसके मुख पर एक अपूर्व गाम्भीर्य की आभा देख पाओगे।

प्रेमिक गम्भीर होते हैं। किन्तु उनके गाम्भीर्य मे भीमत्व नहीं, भयंकरता नहीं—वह प्रसन्नता-दायक गम्भीर्य है। उसे देखकर भय नहीं होता—प्राण नहीं काँपते। उसमे रुद्रत्व है ही नहीं। प्रशान्त-महासागर देखकर मन मे जो भाव उठते हैं, प्रेमिक का मुख देखने से भी वे ही भाव उठते हैं। प्रेमिक को देखकर हृदय में एक प्रकार की गम्भीरता की अनुभूति होती है.

किन्तु उसके निकट मन की सभी बातें खोलकर कहने मे भय नहीं होता। प्रेमिक और प्रेमास्पद निर्जन मे—अत्यन्त निर्जन मे - बैठकर, गम्भीर भाव से, जीवन के गूढतम विषय को एक दूसरे के निकट प्रगट करते है, और प्रेम के जो मूलाधार है, उनके निकट वर-दान और अभय-भिक्षा माँगते है। जिसके निकट तुम्हे अन्तस्तल के गम्भीरतम रहस्य के प्रकाशित करने मे भय हो, समझ लो कि वह तुमसे प्रेम नहीं करता। गम्भीरतम विषय ही तो प्रेम के आहार हैं।

प्रेम गम्भीर है सही, किन्तु बड़ा कौतुकी है। सागर बड़ा गम्भीर है; किन्तु उसके वक्ष-स्थल पर कैसी छोटी-छोटी सुन्दर तरंगें क्रीड़ा करती रहती हैं! भगवान् बड़े कौतुकी हैं; तभी तो इतने फूल खिलते हैं - साँझ के समय आकाश में इतने प्रकार के रंग उत्पन्न होते है—ऐसी मीठी दक्षिण-वायु बहती है।

प्र।

प्रेम के भीतर हँसी है, ठट्ठा है, आमोद है; किन्तु तरलता नहीं। फूलों को देखते हो; बाहर कैसी सुन्दर पँखड़ियाँ झूम-झूमकर हँसती हैं; किन्तु भीतर—अन्तस्तल में—एक सुन्दर काला चिह्न है। उसी प्रकार प्रेमिक के बाहर कौतुक पाओगे; पर उस कौतुक की केन्द्रभूमि में गाम्भीर्य है।

प्रेम का आमोद तिनका नहीं है—रुई नहीं है कि उड़ जाय। उस पर गाम्भीर्य का यथेष्ट बोझ लदा है।

प्रेम का कौतुक केवल तरंग नहीं है, उसके नीचे गाम्भीर्य है। इस गाम्भीर्य को जो देखता है, वही जानता है। जानना सहज भी नहीं। साधु लोग बड़े ही कौतुकी होते हैं; किन्तु उस कौतुक के भीतर से भी वे समय-समय पर कितने गम्भीर तत्त्व उपस्थित करते हैं! जिन्होंने श्रीरामकृष्ण परमहंस के साथ बातचीत की है,

वे इस कथन की यथार्थता सहज में ही समझ सकते हैं।

एक बात और कह चुका हूँ—प्रेम में आवेग है, उद्वेग नहीं। इसमें प्रशान्त व्याकुलता खूब है, छटपटाहट नहीं। हृदय को चीरकर भीतर, और भीतर, एकदम भीतर—उसके भी अन्तरतम प्रदेश मे—आत्मा की हड्डियों के अन्दर प्रेमास्पद को छिपा रखने की आकांक्षा होती है। उनके साथ तन्मय होने के लिए अनवरत चेष्टा जारी रहती है।

जितना ही प्रेम मिलता है, उतना ही—और दो, और दो—की क्रमागत भिक्षा प्रेमिक चाहता है। जो प्रेम-राज्य के अधीश्वर हैं, वह जितना प्रेमी चाहता है, उतना प्रेम देते हैं। हीरा, मणि, माणिक—एक माणिक बराबर है सात राजों के धन के - कितने माणिक तुम चाहते हो? जितने चाहो, अनन्त भंडार से

तुम्हें प्राप्त होंगे। वह देंगे। किन्तु देने से ही क्या होगा, तुम तो और भी चाहोगे।

प्रेम में ऐसी व्याकुलता की पराकाष्ठा है: किन्तु उद्वेग नहीं है। जिससे पागलपन आ जाय—स्थिरता नष्ट हो. वह नहीं है। प्रेम विरह को खूब सह सकता है। सती स्त्री पति के लिए व्याकुल रहती है: किन्तु क्या इस कारण वह पति के निकट न रहने से उद्विग्न हो जाती है? आत्मा तो सदा मुट्ठी मे है, फिर उद्विग्न हो किस लिए? पाँच बजे मित्र ने आने को कहा था: किन्तु नहीं आया—केवल इसी लिए जिस प्रेम मे और कुछ अच्छा नहीं लगता—गुरुतर कर्त्तव्य-साधन कष्टकर हो जाता है, वह प्रेम 'प्रेम' नहीं—मोह है। देखो, तुम्हारा प्रेम इस जाति का है या नहीं? तुम्हारे प्रेमास्पद तुम्हें उद्विग्न करते हैं या नहीं? तुम्हारे पाठ याद करने मे बाधा देते हैं या नहीं? देखो, पाठ सीखने के समय उनकी

छवि तुम्हारे मन मे जगकर कर्तव्य करने में सहायता करती है कि वाधा उपस्थित करती है। यदि वाधा उपस्थित करती है, तो सावधान !! मणि की माला समझ कर साँप को मत पकड़ो।

प्रेम मे उच्छ्वास है, उद्वेलता नही। चन्द्र को देखकर समुद्र आनन्द से फूल उठता है। किन्तु क्या कभी वह अपने तट-प्रदेश का अतिक्रम करता है? प्रेमास्पद को देखकर हृदय आनन्द से अवश्य उमड़ आवेगा; किन्तु इस कारण से कभी कर्त्तव्य की सीमा का अतिक्रम नहीं हो सकता। स्कूल आते समय, बहुत दिनो के वाद, राह में प्रेमास्पद को हँसते हुए खड़ा देखकर प्राण आनन्द से पागल हो उठेंगे, हृदय में प्रेम का तूफान उमड़ आयेगा—ऐसा होना ही चाहिये। किन्तु इस लिए स्कूल जाने में वाधा पहुँचना ठीक नहीं। उन्हें इस तरह देखकर स्कूल जाने की इच्छा न हो, यह उचित

नहीं। बल्कि उनकी मूर्ति को हृदय में रखकर, उनके आगमन के आनन्द-सौरभ से हृदय को भरपूर करके, द्विगुण उत्साह के साथ, कर्त्तव्य-साधन करने के लिए जाना चाहिये। प्रेम कर्त्तव्य-ज्ञान को तीक्ष्णतर कर देता है। उसमें उच्छृङ्खलता नहीं है। प्रकृति तो प्रेममयी है; किन्तु क्या कभी उसे विधि-निर्दिष्ट कर्त्तव्य का उल्लंघन करते देखा है? रामचन्द्र सीता को कितना प्यार करते थे? एक दिन सीता के स्पर्श का सुख अनुभव कर उन्होने कहा था—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा,
प्रबोधो निद्रा वा किमुविषविसर्पः किमुमदः।
तवस्पर्शेस्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो,
विकारश्चैतन्यम्भ्रमयति च सम्मीलयति च॥

—मेरी जो यह अनुभूति है—वह सुख है या दुःख—जागृति है या निद्रा? क्या मेरे शरीर में विष का संचार हो रहा है? या मैं किसी

मादक द्रव्य का सेवन कर उन्मत्त हो गया हूँ ? कुछ भी समझ में नहीं आता, तुम्हारे स्पर्श से एक विचित्र विकार ने उत्पन्न होकर मेरी समस्त इन्द्रियों को मुग्ध बना दिया है, चैतन्य विभ्रान्त और समाच्छन्न हो गया है—मेरी चेतना खो गई है, यह मुझे क्या हो गया है ? उन्ही राम-चंद्र ने कर्त्तव्यानुरोध से क्या उस सीता को अनायास ही वन में नहीं भेज दिया ? बुद्धदेव ने अपनी प्राणाधिका पत्नी 'गोपा' को कर्त्तव्य के लिए त्याग दिया था। चैतन्यदेव ने शचीमाता और विष्णुप्रिया को छोड़कर प्रेम के प्रचार के लिए संन्यासधर्म का अलवम्बन किया था—दक्षिण को जाते समय अपने प्राणापेक्षा-प्रियतर शिष्यों के भूतल पर मूर्च्छित होकर गिर पड़ने पर भी एक बार घूमकर देखा तक नहीं !

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमीश्वरः॥

प्रेमिक का प्राण फूल से भी कोमल होता है; किन्तु कर्त्तव्य के आह्वान पर वह वज्र से भी अधिक कठोर हो जाता है। उच्छृङ्खलता-शून्य प्रेम की यह छवि सदा हृदय में रखो।

प्रेम में शासन है, पेषण नहीं—उत्पीड़न नहीं। ईश्वर हम लोगों को प्यार करते हैं; किन्तु यदि हम अन्याय करें, तो छुटकारा नहीं—दंड भोगना ही होगा। किन्तु उस दंड के भीतर क्रोध नहीं है, कुटिल भृकुटी नहीं है। केवल क्रोध का भान-मात्र होता है; किन्तु उसके मूल में प्रसन्नता है। पिता सन्तान के दोष के संशोधन के लिए उसे पीटता है—मारता है। किन्तु, यदि आँखें खोलकर देखो, तो उस प्रहार के अन्दर प्रेम का प्रवाह झर-झर करके बह रहा है। प्रेमास्पद की त्रुटि को दूर करने के लिए शासन अवश्य करना होगा; किन्तु पेषण—अत्याचार—उत्पीड़न नहीं।

प्रेम के प्रहार में विकटता नहीं है। अन्याय के दमन के लिए एक मुहूर्त पहले जिसे प्रहार किया था, दूसरे ही मुहूर्त में उसे गोद में बिठलाते हैं। प्रेमिक का शासन और चुम्बन दोनों समान है—यदि ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं।

एक लड़के ने अपने प्रेमी दूसरे लड़के को किसी अन्याय-कार्य के लिए शासन किया था—दंड दिया था। इसलिए दोनों में बातचीत बन्द हो गई। दोनों दो ओर चले गये। कुछ दिनों के बाद, एक दिन, एक वृक्ष के नीचे दोनों जा मिले; किन्तु दोनों में से किसी एक ने भी दूसरे को स्पर्श नहीं किया—परस्पर कोई बात तक नहीं हुई। उस समय अपराह्न हो रहा था—वेला ढल चुकी थी। जिसने शासन किया था, वह सोचने लगा—मेरे प्रेमी ने अब तक भोजन किया है या नहीं, कैसे जानूँ। सोचते-सोचते

कुछ देर के बाद वृक्ष की ओर ताकते हुए वह कहने लगा —ऐ वृक्ष, मैं किसी दूसरे से नहीं, तुम्हीं से पूछ रहा हूँ, बोलो, तुमने भोजन किया या नहीं। इस पर दूसरे लड़के ने भी वृक्ष ही की ओर ताककर कहा—ऐ वृक्ष, मैं भी किसी दूसरे से नहीं, केवल तुम्हीं से कहता हूँ कि मैं भोजन कर चुका हूँ। कैसा मधुर दृश्य है! शासन करने वाले लड़के ने शासन तो किया था; किन्तु पेषण करने—उत्पीड़न देने—का उसे अधिकार नहीं था। प्रेम ने उसकी पेषण की क्षमता उससे अपहरण कर ली थी।

प्रेम में अभिमान है, अपमान नहीं। बँगला-कवि रामप्रसाद ने गाया है—

'माँ माँ बले आर डाकिबो ना'

किन्तु माँ के निकट न रहने से क्या उन्होंने अपमान समझा था? नहीं। यदि ऐसा करते, तो ऐसा मधुर अभिमान-मिश्रित गीत वह गा

ही नहीं सकते। जहाँ अपमान का खयाल होता है, वहाँ अभिमान की मधुरिमा नहीं पाई जाती।

कभी-कभी प्रेमिक अभिमान में फूल उठते है, किन्तु प्रेमास्पद के गले से लगे बिना रहेंगे कब तक ? अपमान का भाव मन मे आते ही गले लगने का भाव नष्ट हो जाता है। गौरांग-देव ने अभिमान में आकर—'अब कृष्ण का नाम न लूँगा'—ऐसा निश्चय किया था; किन्तु यह प्रतिज्ञा क्या निबह सकी ? प्रेमिक ने एक क्षण पहले कहा था—जाओ, अब मैं तुम से न बोलूँगा, किन्तु दूसरे ही क्षण कहता है—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु—
मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

'वह मुझे आलिंगन न करे, छाती से न लगावे और दर्शन न देकर मर्माहत भी बनावे—

कुछ भी क्यों न करे—मैं उसी का हूँ, उसी का हूँ।' प्रेम में अभिमान इस तरह दीर्घस्थायी है!

एक बात और कह चुका हूँ—प्रेम मे विवाद है, विषाद नहीं। पूर्व में जो मैंने कहा है, उसे सुनकर इसे समझने में कठिनाई नहीं होगी। यह हो सकता है कि बाहर मतभेद लेकर परस्पर विवाद हो; किन्तु इससे आदर नष्ट नहीं हो सकता। प्रेम की भित्ति जब भगवान है, और उनके पदतल मे जाकर जब सभी एक हो जाते हैं, तब बाहर सामान्य विषय को लेकर विवाद मे विषाद क्यों उत्पन्न होगा? हिन्दू, मुसलमान, चीन-वासी और अमेरिका वाली—मै तो कहता हूँ कि सभी—परस्पर गम्भीर प्रेम मे आबद्ध हो सकते हैं और होना प्राकृतिक भी है। मूल मे जिनका अवलम्बन करके प्रेम उत्पन्न होता है, वह ईश्वर तो 'विगतविवाद्म' है। तब फिर प्रकृत विवाद—अर्थात् विषाद-

जनक विवाद—रहता ही कहाँ है ? परमहंस रामकृष्ण और केशवचंद्रसेन इन दोनों मे मत का विवाद था, किन्तु इस विवाद में विपाद कभी नहीं उत्पन्न हुआ। उन दोनो ने जो एक दूसरे को गले से लगाया था, उस पवित्र प्रेम को क्या यह विचार दूर कर सका ?

प्रेम के कई लक्षण मैंने बतलाये हैं। इन लक्षणों से युक्त प्रेम का साधन करने से सुन्दर बनोगे। भगवान इतने सुन्दर हैं, सो प्रेमनिधि होने ही के कारण। तुम भी प्रेमिक बनकर सुन्दर हो जाओगे। सुन्दर बनो—सुन्दर, उस सौंदर्य-सागर में डुबकियाँ लगाकर सुन्दर बनो, प्रेमनिधि परमात्मा से प्रेम का संचय करो। ऐसा करने से तुम्हारा जीवन धन्य होगा। तुम लोग आपाद-मस्तक प्रेम से अभिषिक्त होओ। विचार से, कार्य से, वाक्य से— सबसे प्रेम का प्रचार करो— भगवान से मैं यही प्रार्थना करता हूँ।

प्रेम की शक्ति और साधना

(भाद्र, १३०० फसली)

मूढ़मति युवकवृन्द प्रेम का नाम देकर मोह को स्थान देते हैं, मणि-माला समझकर सर्प को गले मे बाँधते हैं, अमृत कहकर विष खाते हैं, और सागर जानकर मरुभूमि की ओर दौड़ते हैं। इसी लिए तुम्हे सावधान करने के उद्देश्य से गत शनिवार को प्रेम के कुछ लक्षण मैंने बतलाये। आज प्रेम की शक्तिमत्ता का परिचय दूँगा, और प्रेम-साधना के कुछ उपाय बताऊँगा।

प्रेम। शक्तिमान है, सर्वजयी है, जो ब्रह्मांड के किसी दूसरे से नहीं हो सकता, उसे प्रेम कर दिखलाता है। जहाँ अन्य सभी शक्तियाँ परास्त हो जाती हैं, प्रेम वहाँ विजयी होता है। संसार का इतिहास देखो। 'जगाई-मधाई' और किसी

भी शक्ति द्वारा परास्त नहीं हुए, किन्तु 'निताई' के प्रेम ने उन्हें वैसे ही भसा दिया, जैसे गंगा ने प्रकांड एरावत को। शिक्षक ने दुर्दान्त बालक को राह पर लाने के लिए कितने उपायों का अवलम्बन किया; किन्तु किसी उपाय से भी कुछ न हुआ। अन्त में उन्होंने ज्यों ही प्रेम-दंड उठाया कि बालक राह पर आ गया। एक व्यक्ति भीषण रोग से आक्रान्त था। चिकित्सक का औषध उसे शय्या पर से उठाकर न बैठा सका। इतने ही में उसका प्रेम-पात्र आ गया—शरीर में बिजली दौड़ गई—वह शय्याशायी रोगी उठकर बैठ गया! प्रेम दुर्बल को सबल बनाता है, अशिष्ट बालक को शिष्ट बनाता है, और महापापी को पुण्यात्मा में परिणत करता है। और चाहते क्या हो? अपने जीवन की पर्यालोचना करो, देखोगे कि जहाँ प्रेम है, वहाँ जय-जयकार है।

प्रेम सर्वौषधि है—महौषधि है। स्वर्ग और मर्त्य 'प्रेम' के परे टिके हैं, सुर-लोक, नर-लोक—प्रेम-सूत्र से ग्रथित हैं। प्रेम से बढ़कर बृहत् और शक्तिमान् कुछ भी नहीं। पाषाण-हृदय सिराजुद्दौला भी भक्तवर रामप्रसाद के प्रेम-गान से पिघल गया। आज राज-राजेश्वरों के कनक-किरीट भी प्रेमिक-सूत्रधारों के चरण-तल में विलुण्ठित हो रहे हैं। नैपोलियन-बोनापार्ट जो नहीं कर सका, ईसा ने उसे कर दिखाया। नैपोलियन स्वयं 'सेंट-हेलना' में इसका उल्लेख कर-करके रोता था। और उसकी जो अनुचर-मोहिनी शक्ति थी, वह भी प्रेम की शक्ति थी। वह अपने अनुचरों को इतना प्यार करता था कि वे उसके निकट मंत्र-मुग्ध सर्प की तरह वशीभूत रहते थे। 'आर-कोलार'-युद्ध की विजय एक प्रेम-कण का शक्ति-विकास-मात्र थी। 'अष्टारलिट्ज'-युद्ध में

उसके प्राण प्रेम ही ने बचाये। 'हू-हू' शब्द करता हुआ एक अग्निमय तोप का गोला उसकी ओर आ रहा था, उसके बाल्य-सहचर 'ज्याकोपो' ने प्रेम से उस गोले को अपने हृदय पर ले लिया। वह मुन गया, नैपोलियन बच गया! प्रेम इस प्रकार की शक्ति रखने ही के कारण महान् है। संसार मे इसी प्रेम की जय-घोषणा हो रही है। इसकी महिमा के छोटे-बड़े हजारों दृष्टान्त उपस्थित किये जा सकते है।

अब प्रेम की साधना के कुछ उपाय बतलाने की चेष्टा करूँगा।

(१) प्रेम-साधना के लिए प्रथम कर्तव्य है—प्रेम-स्वरूप का प्रेम-कीर्तन, प्रेमिकों के साथ प्रेम के सम्बन्ध में आलोचना, और प्रेमिक के जीवन-चरित का पाठ, तथा रामकृष्ण परमहंसदेव-जैसे प्रेमिकों के साथ भगवान का

प्रेम-कीर्तन। इस प्रकार प्रेमिकों के साथ प्रेम के सम्बन्ध में आलोचना और इन लोगों के तथा शाक्यसिंह, गौरांग आदि प्रकृत प्रेमिकों के जीवन-चरित के पाठ से—जिसके हृदय में प्रेम नहीं है, उसमें भी—प्रेम का संचार होता है और जिसके हृदय में प्रेम विद्यमान है, उसके प्रेम की वृद्धि होती है। उस प्रेम-स्वरूप की प्रेम-लीला का श्रवण और कीर्तन तथा प्रेमिकों के साथ, या उनके सम्बन्ध में, प्रेमालोचना करने से कठोर व्यक्ति का हृदय भी अमृत-सिक्त होता है। एवम्, उसके हृदय में इस प्रकार अमृत-स्रोत प्रवाहित होता है कि उसे पान करते ही—प्रेम कहाँ, प्रेम कहाँ – पुकारते हुए वह उन्मत्त हो जाता है। भगवान भी भक्त के हृदय की पुकार सुनते-सुनते एक दिन, दो दिन, चार दिन, दस दिन, बीस दिन, एक महीने, दो महीने, चार महीने के बाद – कभी-न-कभी अवश्य—उसे प्रेम-रंग में

रेंगते ही हैं। 'जगाई-मधाई' के हृदय में 'निताई' की संगति होने के कई मिनट के अन्दर ही प्रेम की नींव पड़ गई थी।

(२) प्रकृति-निरीक्षण, और जगद्व्यापी प्रेम की विधि किस प्रकार विकसित होती है, इसका चिंतन। किंचित् विचार करने ही से प्रतीत होगा कि मानव-समाज प्रेम की भित्ति पर स्थापित है। जितनी ही पृथ्वी की उन्नति होती है, उतनी ही प्रेम की महिमा विस्तृत होती है। अमेरिका की शिकागो-प्रदर्शिनी प्रेम का महा-मेला थी। इस ब्रह्मांड के नाना देशों की नाना जातियो ने वहाँ परस्पर आलिंगन करके उस प्रेम-स्वरूप की प्रेम-लीला दिखलाई थी। अमेरिका में स्थापित Parliament of Religion (धर्म-महासभा) ने क्या शिक्षा दी है? यही कि भिन्न-भिन्न मत लेकर वाहर कितना भी विवाद क्यों न करो, किन्तु धर्म

की केन्द्र-भूमि मे प्रेम विराज रहा है। नाना देशो में जो क्रमशः व्यवसाय और वाणिज्य का विस्तार हो रहा है, उनके द्वारा भी तो प्रेम ही का प्रचार हो रहा है। मेरा अभाव तुम पूरा कर रहे हो, तुम्हारा अभाव मै पूरा कर रहा हूँ—यो परस्पर अभाव-मोचन हो रहा है। राजनैतिक गोरख-धन्धों में भी अनुसंधान करने पर प्रेम का ही कौतुक देखोगे। भारतवर्ष ने इँग्लैंड से बहुत कुछ पाया है। इँग्लैंड ने भी भारत से बहुत-कुछ प्राप्त किया है। यो समस्त जगत् प्रेम के सूत्र में बँधा है।

जरा भीतर देखो। एक-एक आध्यात्मिक तत्व के उन्मेष में प्रेम की कितनी लीलायें देखी जाती हैं, सो वर्णनातीत है।

प्रकृति-निरीक्षण बड़ा ही प्रेमोद्दीपक है। चन्द्र, सूर्य, जल, वायु, वृक्ष, लता—सभी उस प्रेम-स्वरूप के आदेश का पालन करते हुए हमें

किस प्रकार सुख पहुँचा रहे हैं, उस पर विचार करने से हृदय में प्रेम का संचार होता है। प्रेम के भिखारियो ! कुछ दिनों तक चन्द्रमा की ओर देखते रहो, देखोगे कि तुम्हारा हृदय रस से पूर्ण हो गया है। प्रकृति के सुन्दर-सुन्दर दृश्य देखो, नदी की कल-कल ध्वनि सुनो, मलय-मारुत का सेवन करो, फूल का खिलना देखते रहो, मधुर-मधुर वर्षा की बूँदों का गम्भीर आनन्द अनुभव करो—हृदय में प्रेम उत्पन्न होगा। प्रकृति की मनोहारिणी मूर्ति को देखते-देखते प्राण प्रेम से परिपूर्ण हो जाते हैं। "सुमन-सुगंध याद कर देती सुधि मेरे प्रियतम की"। यदि किसी से प्रेम न भी हो; तो नवीन प्रेम का उद्रेक होता है। प्रेममयी प्रकृति के निकट उपस्थित होते ही वह हृदय को प्रेम-रस से पूर्ण कर देती है। इस लिए चारों ओर के अगण्य मनोहर दृश्य को देख-देखकर अपने प्राण को

ओतप्रोत कर लो। यदि कोई तुम्हारा प्रेम-पात्र हो, तो उसे साथ लेकर प्रकृति-निरीक्षण करो। इस प्रकार देखने से द्विगुण आनन्द होगा, और प्रेम की क्रमशः वृद्धि होगी। प्रेमास्पद के गले से लिपटकर जितना ही प्रकृति का निरीक्षण करोगे, उतनी ही तुम दोनों के हृदय में प्रम की क्रमागत वृद्धि होगी। और, ज्यों-ज्यों प्रेम में वृद्धि होगी, त्यों-त्यों सूर्य से तेजस्विता, चन्द्र से मधुरिमा, पुष्प से कोमलता और सागर से गम्भीरता संचय कर सकोगे, एवं प्रकृति के भीतर की विधि-शृंखला तथा शासन को देखकर दोनो अपने-अपने जीवन मे उनका समागम कर दिव्यधाम के अधिकारी बनोगे।

(२) प्रेमास्पद को साथ लेकर कर्त्तव्य-साधन की ओर अग्रसर होओ। दोनों मिलकर कर्त्तव्य-साधन की जितनी ही चेष्टा करोगे, उतना ही कर्त्तव्य मधुर मालूम होगा। पूर्व ही में कह

चुका हूँ कि जो प्रेम कर्त्तव्यज्ञान को नष्ट करता है, वह प्रेम 'प्रेम' नहीं—मोह है।

प्रेमास्पद के दर्शन से चित्त मे एकाग्रता उत्पन्न होती है—सुतरां, कर्त्तव्य-साधन में मनोयोग की वृद्धि होती है। पतंजलि ने चित्त की एकाग्रता के साधन के सम्बन्ध में कहा है—'यथाभिमतध्यानाद्वा'—जो प्रिय है, उसी के ध्यान से चित्त एकाग्र होता है। चन्द्रमा को देखते-देखते चित्त एकाग्र हो जाता है। जिसे हम प्यार करते है, उसे देखते ही चित्त की चंचलता दूर हो जाती है। जिस प्रेम में प्रेमास्पद को देखकर इन्द्रिय चंचल होते हैं, चित्त में विक्षेप उत्पन्न होता है, वह प्रेम 'प्रेम' नहीं है वह है सर्वनाश का द्वार—काम अथवा मोह। इस प्रकार के प्रेम से सर्वदा अपनी रक्षा करो।

प्रेमिक और प्रेमास्पद—दोनों—के मिल-

कर अपने-अपने कर्त्तव्य-साधन मे नियुक्त होने से कर्त्तव्य सुचारु रूप से सम्पन्न होगा; और परस्पर के दर्शन अथवा स्मृति-सुख के कारण अपने-अपने कर्त्तव्य-साधन में विशेष अनुकूलता हृदयंगम करने से दोनो का प्रेम घनिष्ठतर होगा। जो हमे कर्त्तव्य मे सहायता करेगा, वह हमे अवश्य प्रिय होगा; और जिसे हम सुचारु रूप से कर्त्तव्य का सम्पादन करते देखते हैं, उससे भी बिना प्रेम किये रहा नहीं जाता। इसलिए प्रेमी और प्रेमास्पद—दोनो—अपने-अपने कर्त्तव्य-साधन मे पारस्परिक सहायता का अनुभव कर, तथा दोनों ही दोनो की कर्त्तव्य निष्ठा देखकर, परस्पर प्रियतर होते जाते हैं।

(४) परस्पर जीवन की परीक्षा करने से प्रेम की वृद्धि होती है। जिस प्रकार आत्म-परीक्षा द्वारा अपना हृदय निर्मल करोगे, उसी

प्रकार प्रेमास्पद के जीवन की परीक्षा कर उसे निर्मल बनाओगे। पहले अपने हृदय के प्रेम को—तथा जो तुम्हे प्यार करते हैं, उनके प्रेम को -कसौटी पर कसकर उसकी परीक्षा कर लो -प्रेम के जितने लक्षण मैंने बतलाये है, उनसे मिलाकर देखो। यदि उन लक्षणो का आभास उसमे पाया जाता है, तो समझो कि सोना खरा है—शुद्ध है। और, यदि न पाओ, तो ऐसे प्रेम से दूर रहो।

प्रेम अमृत है, किन्तु विषाक्त हो जाने पर उसके ऐसा प्राण-घातक और कुछ नही। जल के विना हमारे प्राण बच नहीं सकते; किन्तु उसी जल के विषाक्त होने पर हैजे का दौरदौरा होता है। विषाक्त प्रेम शैतान का प्रधान अस्त्र है। पृथ्वी के इतिहास मे देखोगे कि इसी प्रेम के द्वारा पिशाच ने अनेक जीवों का संहार किया है। स्थान-स्थान पर उनकी अस्थियो के स्तूप

खड़े है। सावधान! जिस ओर उन निर्जीव-अस्थियों की राशि को देखो, उस ओर जाओ मत। परस्पर के प्रेम की परीक्षा कर उसके पश्चात् जीवन की परीक्षा करो। प्रेमास्पद के जीवन में कौन-कौन गुण हैं, कौन-कौन दोष हैं, सभी की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म परीक्षा करो। इस प्रकार की परीक्षा ही प्रेम का धर्म है, और प्रेम ही में इस प्रकार की परीक्षा का चमत्कारपूर्ण सुयोग मिलता है। प्रेमास्पद अपने प्रेमिक के निकट हृदय खोले बिना रह ही नहीं सकता। जहाँ प्रेम है, वहीं हृदय खोलने का व्यापार है। प्रेमिक के निकट प्रेमास्पद का भीतर-बाहर समस्त खुला हुआ है। जहाँ परस्पर हृदय खोलकर नहीं रखा जाता, वहाँ प्रेम रह ही नहीं सकता। प्रेमास्पद प्रेमिक के निकट अपने हृदय के कोने-कोने में क्या है—वह, अच्छा या बुरा, जो कुछ हो—उसे तह-तह खोलकर दिखलाता है, और

प्रेमिक के हृदय की ज्योत्स्ना से अपना बाहर-भीतर स्वच्छ कर लेता है। इसमें जितना आनन्द है, उतना संसार की किसी चीज में नहीं है। तुम कहते हो कि कमल सूर्योदय होने से विकसित होता है। किन्तु मैं तो कहता हूँ कि कमल अपना हृदय खोलकर अपने प्रियतम सूर्य को अपना अन्तरतम प्रदेश दिखाता है, और उनकी किरणों से अपने अन्तस्तल को मंडित कर अपनी पँखड़ियों को छिटका देता है। कुमुदिनी खिलती है चन्द्रमा को देखकर अर्थात् अपने हृदय के अन्तस्तल को उसके निकट खोलकर उसके कोने-कोने को चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से ओतप्रोत कर लेती है। इस प्रकार प्राणों को खोलकर—जो अपने प्रेम-पात्र हैं, उनकी शुभ किरणों से—चित्त रंजित करने की किसकी इच्छा नहीं होती? साथ-ही-साथ, यों परस्पर प्राणों को खोलकर एक दूसरे के

निकट रखने से परस्पर के जीवन की परीक्षा का उत्कृष्ट सुयोग भी मिलता है। इस सुयोग का सुव्यवहार करके दोष और गुण का एक-एक करके पता लगाना कर्त्तव्य है। प्रेमास्पद के जीवन का analysis (व्यास) करो। अत्यन्त तीक्ष्ण दृष्टि द्वारा, उनका जीवन जिन-जिन उपादानों से गठित है, एवं उस जीवन में जो-जो गुण या दोष आ गये हों, उन सबका व्यास कर लो —भलीभाँति विश्लेषण कर लो। और, पुन उन्हीं का समास करके दोष को हटाकर और गुण को बढ़ाकर—प्रेमास्पद के जीवन और चरित्र का संगठन करो। प्रेमास्पद की चिन्ता ही व्यष्टि और समष्टि का व्यापार है। व्यास और समास से ज्ञान की उन्नति होती है। जिस किसी विज्ञान को सीखोगे, उसमें यही व्यष्टि और समष्टि पाओगे। ब्रह्म-ज्ञान, मनोविज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान —सभी, व्यष्टि और समष्टि पर, केवल

Analysis और Synthesis पर अवलम्बित है। इससे ज्ञान का विकास होता है, बुद्धि परिमार्जित होती है। प्रेमिक जिस किसी पर अनुरक्त होता है, उसी की व्यष्टि और समष्टि लेकर व्यस्त बना रहता है। इसी बात को समझ कर 'इमर्सन' ने कहा है—Love sharpens intellect—प्रेम बुद्धि को तीक्ष्ण बनाताहै। जिससे प्रेम करो, सूक्ष्म दृष्टि से उसके चरित्र को analyse करो।

कोई-कोई कहते है कि प्रेम अन्धा है। प्रेम हरगिज अन्धा नहीं है। cupid (काम) अन्धा है, love (प्रेम) तो चक्षुष्मान है—आँखोवाला है। God is love—भगवान प्रेम-स्वरूप हैं। God (भगवान) विश्वचक्षु—सर्वद्रष्टा हैं। प्रेम-स्वरूप सर्वद्रष्टा है। सुतरां, प्रेम तीव्र दृष्टि से प्रेमास्पद के अन्तस्तल को देख लेता है। इस प्रकार देखने से प्रेम में ह्रास होगा, ऐसी आशंका का कोई कारण नहीं।

प्रेमास्पद में कोई त्रुटि देखते ही उस त्रुटि को दूर करने के लिए प्रेमिक के प्राण छटपटाने लगते हैं—इससे प्रेम की वृद्धि होती है। प्रेमास्पद को छाती से लगाकर प्रेमिक कहता है—'तुम मेरे इतने आदर के पात्र हो कि तुम्हारे भीतर यह कलंक मैं देख नहीं सकता, तुम शीघ्र इस त्रुटि को दूर करो।' प्रेमास्पद के कानों में प्रेमिक का अनुरोध वेद-वाक्य है। सुनते ही, वह इस अनुरोध को कार्य-रूप में परिणत करने की चेष्टा आरम्भ कर देता है। प्रेमिक भी इसमें उसकी सहायता करता है। फिर दोनों का उद्योग देख प्रेमस्वरूप का आशीर्वाद स्वर्ग से अवतरित होता है—यों कलंक शीघ्र ही दूर हो जाता है। जितनी ही इस प्रकार अनुरोध की रक्षा होती है, कलंक दूर होता है—प्रेम तरंग की तरह बढ़ता है। अपने हार्दिक प्रेमी के अनुरूप प्रेम-पात्र बनने के लिए मुझे अपने समस्त

कलंको को धो डालना चाहिये—इस प्रकार का विचार मनुष्य को निर्मलता की ओर अग्रसर करता है, और इस विचार के साथ-ही-साथ प्रेम की भी वृद्धि होती है। अनेक समय ऐसा होता है कि हृदय के कोने मे एक दाग आकर छिप गया और आत्मपरीक्षा द्वारा हम उसका पता लगा नही सके; किन्तु जो हमारे प्रेम-पात्र हैं, उनने उसका पता झट लगा दिया—फलत. वह दाग दूर हो गया। जिसे मैं स्वयं नहीं कर सका, उसे ही मेरे प्रेमास्पद ने कर दिखाया। सुतरां, प्रेमास्पद बड़े ही मधुर हैं। मैं अपने शरीर के अनेक स्थलो को स्वयं देख नहीं सकता; किन्तु वे देख सकते हैं। मेरे चरित्र के अनेक स्थल मेरी दृष्टि से बाहर हैं; किन्तु वे समस्त स्थलों को देख सकते हैं—अतएव, वे मेरे अपने से भी अधिक आत्मीय हैं। फिर उन्हें प्राणों से बढ़कर प्यार न करूँगा, तो करूँगा किसे ?

(५) निर्जन में बैठकर प्रेमास्पद का ध्या
करना विशेष उपकारी है। ध्यान किसका करोगे
उनके कान, नाक, जिह्वा या त्वचा का ? मैं इन
छोड़ देने को नहीं कहता। किन्तु ध्यान का प्रधा
विषय है प्रेमास्पद के शम, दम, दक्षता, धी-शक्ति
दया, आध्यात्मिकता प्रभृति गुणसमूह। इस
प्रकार के ध्यान से प्रेम की बड़ी वृद्धि होती है
आँख, कान, नाक प्रभृति को छोड़कर — आत्म
को पकड़ने के लिए—इनसे बीच-बीच में पृथ
हो जाना बहुत अच्छा है। बाहर की संगी
समय-समय पर स्थगित रखना आत्मा के अनु
संधान के लिए उपयोगी है। इसी से 'इमर्सन
ने कहा है—Leave this touching and
clawing—आत्मा से चित्त को सन्निवि
करो। ईसा के लिए कितने Martyrs (शहीदों
ने प्राण विसर्जन कर दिये। उन लोगों ने ईसा
मूर्ति देखी नहीं थी। आत्मा के लिए आत्मा में

प्रेम किया था। वाशिंगटन इरविंग ने एक स्त्री की कहानी लिखी है, जो 'बायरन' को न देखने पर भी उसके लिए प्राण देने को प्रस्तुत थी।

(६) उपसंहार में यही कहना है कि भगवान की उपासना करने के समय प्रेमास्पद को अपने वक्षस्थल से लगाकर बैठो। यदि प्रेमास्पद निकट न हो, तो भगवान के चरण-तल में उनकी मूर्ति की ही स्थापना कर लो—उन श्रीचरणों में उनकी आत्मा की अंजलि दो। देखोगे, कितना सुख, कितना आनन्द प्राप्त होता है। जिन्हें तुम प्यार करते हो, उन सबकी आत्मा की माला गूँथकर उन्ही चरणो मे उपहार दो। देखोगे, इससे अमृत उत्पन्न होगा। अपने प्रेमास्पद के सम्बन्ध में जो कुछ कहना हो, उन्हीं चरणों में निवेदन करो। उनका भला होगा, तुम्हारा भी भला होगा। जिस दिन समस्त जगत को अपना कहकर उन चरणों में अंजलि दे

सकोगे, उसी दिन तुम उस प्रेम-स्वरूप की उपयुक्त सन्तान कहकर अपना परिचय दे सकोगे—उसी दिन देवगण तुम्हें प्रेमिक के सिंहासन पर बैठाकर प्रेम की आरती उतारेंगे—चारों दिशाएँ मधुमय हो जायँगी। सचमुच उसी दिन तुम्हारे निकट 'मृत्यु-लोक' स्वर्गलोक बन जायगा।

हे देश के आशास्थल! काम और मोह में देश आच्छन्न हो गया है। इसी लिए तुम्हारे निकट मैंने प्रेम का उच्च आदर्श उपस्थित किया है। तुम इसी आदर्श को सम्मुख रखकर प्रेम की साधना करो। तुम्हारा कल्याण होगा—देश की रक्षा होगी—विद्यालय की स्थापना के उद्देश्य सफल होंगे—तुम्हारे शिक्षकों और अभिभावकों के आनन्द की सीमा न रहेगी—स्वर्ग से पुष्पवृष्टि होगी, और पुनः सुदिन आवेगा। भगवान तुम्हें आशीर्वाद दें!

नवयुवक-हृदय-हार—तीसरा हीरा

श्रीशरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय लिखित
'परिणीता' का अनुवाद

जयमाल

अनुवादक

श्रीरामधारी प्रसाद विशारद

मंत्री

बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

प्रकाशक

हिन्दी-पुस्तक भंडार, लहेरियासराय

संस्करण १९८२ वि० मूल्य ह·

प्रकाशक
श्रीवैदेहीशरण,
हिन्दी-पुस्तक-भंडार,
लहेरियासराय।
(बिहार)

मुद्रक
गणपति कृष्ण गुर्जर
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस
काशी।

जयमाल

१

शक्ति-बाण हृदय में लगने के समय लक्ष्मण की मुखाकृति निश्चय ही अत्यन्त विकृत हो गई थी; किन्तु मालूम होता है, गुरुचरण का मुख इससे भी अधिक उस समय विकृत हो गया था, जिस समय उसे प्रातःकाल ही, अन्तःपुर से, यह खबर मिली कि उसकी गृहिणी ने इस बार भी, निर्विघ्न, पंचम कन्या प्रसव किया है।

गुरुचरण एक बैंक का साठ रुपये महीने पर किरानी है। फलतः उसकी देह जिस प्रकार किराया-गाड़ी के घोड़े की देह के समान शुष्क और शीर्ण है, उसी प्रकार उसकी आँख और मुख में भी, ठीक उन्हीं घोड़ों की आँख और मुख के समान, निष्काम निर्विकार और निर्लिप्त भाव विद्यमान है। इस भयंकर शुभ सम्वाद से आज उसके हाथ का हुक्का हाथ में ही रह गया और अपने पुराने खानदानी तकिये पर उठँग कर वह बैठ गया। एक बार दीर्घ निश्वास छोड़ने की भी शक्ति उसमें नहीं रह गई।

यह शुभ सम्वाद लाई थी उसकी दशवर्षीया तृती[illegible] आनन्दकाली। उसने कहा—बाबूजी, चलो देखो न।

गुरुचरण ने पुत्री की ओर देख कर कहा—बेटी, एक गिलास पानी तो ला, पीऊँ।

लड़की पानी लाने चली गई। उसके चले जाने पर गुरुचरण को सब से पहले प्रसूति-गृह के आवश्यक व्यय की बात याद पड़ी। उसके बाद मेले के दिनों में, स्टेशन पर गाड़ी के आने पर फाटक खुला देख, तीसरे दर्जे के यात्री अपनी गठरी मोटरी ले पागल की तरह जिस प्रकार लोगों को रौंदते-कुचलते गाड़ी में घुसने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार खींच खाँच करती हुई भिन्न प्रकार की चिन्तायें उसके दिमाग में हो हल्ला मचाती हुई प्रवेश करने लगीं। याद पड़ा—गत वर्ष उसकी द्वितीय कन्या का शुभ विवाह हुआ था, जिसमें बहू-बाजार का यह दुतल्ला मकान बन्धक पड़ा है, और उसका छः महीने का सूद अभी बाकी है। दुर्गापूजा को अब केवल एक महीना ही बाकी है—मँझली लड़की के यहाँ 'पुजारी' भेजनी होगी। आफिस में कल आठ बजे तक खटने पर भी डेबिट क्रेडिट (जमाखर्च) नहीं मिला और आज बारह बजे के अन्दर ही विलायत हिसाब भेजना जरूरी है। कल बड़े साहब ने हुक्म जारी किया है कि [illegible]

ामने अधिक अपराधी हैं। दयामय, तुम्हारी दया से एक भारी बागाड़ी ही मेरी छाती पर से चली जाती !

आनन्दकाली पानी लाकर बोली—बाबूजी, उठो, पानी ाई हूँ।

गुरुचरण उठा और ग्लास भर पानी एक ही सांस में पीकर ोला—जा बेटी ग्लास ले जा। उसके चले जाने पर गुरुचरण िर लेट रहा।

ललिता घर मे घुस कर बोली—मामा, चाय लाई हूँ, उठो।

चाय का नाम सुनकर गुरुचरण एकबार फिर उठ बैठा। ललिता के मुख की ओर देखते ही उसके हृदय की आधी ज्वाला ानों शान्त हो गई। कहने लगा—सारी रात जगी है, बेटी ! आ, ुछ देर यहाँ आकर मेरे पास बैठ।

ललिता लजाती हुई मुसकुराई और पास बैठ कर बोली—ें रात अधिक नहीं जगी हूँ, मामा !

इस जीर्ण-शीर्ण गुरुभार-ग्रस्त अकाल-वृद्ध मामा के हृदय की ंभीर व्यथा का अनुभव ललिता से अधिक इस संसार में कोई नहीं करता था।

गुरुचरण ने कहा—जो हो, आ, मेरे पास आ।

ललिता के निकट बैठते ही गुरुचरण उसके माथे पर हाथ देकर सहसा बोल उठा—मैं यदि अपनी इस बच्ची को राजा के घर ब्याह सकता, तभी जानता कि कुछ काम किया। ललिता माथा नीचे कर चाय ढालने लगी। गुरुचरण कहने लगा—हाँ, बच्ची, तुम्हे अपने इस दुःखी मामा के घर आकर रात-दिन खटना पड़ता है न ? क्यों ?

ललिता सिर हिला कर बोली—दिन-रात क्यों [illegible] मामा! सब कोई काम करते हैं; मैं भी करती हूँ।

इस पर गुरुचरण हँस पड़ा और चाय पीते-पीते बोला—ललिते! तो आज रसोई-पानी का क्या होगा?

ललिता ने सिर ऊँचा कर कहा—क्यों मामा, मैं पकाऊँगी

गुरुचरण ने विस्मय के साथ पूछा—बच्ची, तू पकाना पकाना जानती है?

जानती हूँ मामा, मामी से मैं सब सीख चुकी हूँ।

गुरुचरण ने चाय के प्याले को नीचे रखकर कहा—सचमुच

हाँ सचमुच, मामी के बताने पर कितनी बार मैं पका चुकी हूँ—इतना कह कर उसने सिर नीचे कर लिया। उसके झुके मस्तक पर हाथ रख कर गुरुचरण ने मन-ही-मन उसे आशीर्वाद दिया। उसकी एक भारी दुर्भावना दूर हुई।

यह घर गली के ऊपर ही है। चाय पीते समय खिड़की वाले नजर पड़ते ही गुरुचरण जोर से पुकार उठा—शेखर, बेटा सुनो सुनो।

एक लम्बे [illegible] सुन्दर युवक ने घर में प्रवेश किया।

गुरुचरण ने कहा—देखो, मालूम होता है तुमने [illegible] ?

शेखर ने मुस्करा कर कहा—[illegible]

है, नहीं?

गुरुचरण एक [illegible] छोड़ कर बोला—[illegible]

शेखर ने कहा—ऐसा मत कहो चाचा, सुनकर चाची को बड़ा दुःख होगा। इसके अलावे भगवान चाहे जिसे भी भेज दें, उसको तो आदर-आह्लाद से सर पर उठा लेना उचित है।

गुरुचरण ने कुछ देर चुप रहकर कहा—आदर आह्लाद करना उचित है, यह मैं भी जानता हूँ; किन्तु भगवान भी तो सुविचार नहीं करते। मैं गरीब हूँ, फिर भी मेरे घर में इतनी देवियाँ क्यों? यह घर तक तो तुम्हारे बाप के यहाँ बन्धक पड़ा है। भले ही पड़ा रहे, उसके लिए मुझे तनिक भी दुःख नहीं। किन्तु, यह नहीं देखते बेटा, यह जो मेरी ललिता—पितृहीना, स्वर्ण पुत्तलिका—ललिता है, वह तो केवल राजा के घर में ही शोभा पा सकती है। कहो तो, किस तरह प्राण रहते इसे जिसके-तिसके हाथों दे सकूँगा? राजा के मुकुट में जैसा कोहेनूर जगमगाता रहता है, वैसे ही कोहेनूर की ढेर के मूल्य से भी मेरी बच्ची का मोल अधिक है। किन्तु कौन इसे बूझेगा? पैसा के अभाव से ऐसे रत्न को भी मुझे जहाँ-तहाँ फेंक देना होगा। कहो तो बेटा, उस समय मेरे हृदय में कैसी बरछी चुभेगी? इसकी तेरह वर्ष की उमर हुई, किन्तु हाथ में तेरह पैसे भी नहीं हैं, जो कोई सम्बन्ध ठीक कर सकूँ।

गुरुचरण की दोनों आँखें डबडबा आईं। शेखर चुप रहा। गुरुचरण फिर कहने लगा—शेखरनाथ, देखना बेटा, अपने बन्धु-बान्धवों में शायद तुम इस लड़की का उद्धार करा सको। आज-कल बहुत लड़के, सुनता हूँ, रुपये पैसे की ओर ध्यान नहीं देते, केवल लड़की ही देखकर पसन्द कर लेते हैं। तुम्हारे प्रयत्न से यदि ऐसा कोई वर मिल जाए, तो शेखर, इसके लिए मैं तुम्हें राजा होने का आशीर्वाद दूँगा। अधिक क्या कहूँ बेटा, इस मुहल्ले में

मैं तुम लोगों के ही आश्रय में हूँ। तुम्हारे पिता मुझे अपना छोटा भाई समझते हैं।

शेखर ने सिर हिला कर कहा—अच्छा देखूँगा।

गुरुचरण ने कहा—देखो, भूलो मत। और ललिता तो आठ बरस की उमर से तुमसे ही लिखना-पढ़ना सीख कर आदमी बन रही है। तुम भी तो देखते हो, वह कितनी बुद्धिमती, कितनी शिष्ट और कैसी शान्त है। इतनी छोटी लड़की! और, आज से मेरे घर में रसोई-पानी करेगी, देगी-लेगी, इस समय सब कुछ उसीके माथे है।

इसी समय ललिता ने एक बार आँखें उठा कर नीचे कर लीं। उसके दोनों अधर कुछ-कुछ फूल गये! गालों पर एक हल्की-सी ललाई दौड़ गई। गुरुचरण ने निश्वास छोड़ कर कहा—इसके बाप ने क्या कम रोजगार किया था? किन्तु सब कुछ इस प्रकार दान कर गया, कि इस एक लड़की के लिए कुछ छोड़ नहीं गया।

शेखर चुप रहा। फिर गुरुचरण आप ही बोल उठा—और यह कुछ नहीं रख गया, यह भी मैं कैसे कहूँ? उसने जितने लोगों का जितना दुःख दूर किया, उन सब का समस्त शुभ-फल वह इसी लड़की को दे गया है। ऐसा यदि नहीं होता, तो क्या इतनी छोटी लड़की और ऐसी अन्नपूर्णा होती! तुम्हीं बताओ न शेखर, क्या यह सच नहीं है?"

शेखर हँसने लगा। उसने कुछ भी नहीं दिया।

उसको उठते देखकर गुरुचरण ने पूछा—इतनी जल्दी कहाँ जाते हो?"

शेखर बोला—[illegible]

[illegible]

दिला कर कहा—इस बात को याद रखना बेटा ! यह कुछ साँवली जरूर है, लेकिन ऐसा सुन्दर मुखड़ा, ऐसी मुस्कुराहट, इतनी दया-माया पृथिवी पर घूम कर ढूँढ़ने से भी कोई नहीं पा सकता।

शेखर माथा हिलाकर हँसता हुआ बाहर चला गया। इस युवक की उमर २५-२६ की है। एम. ए. पास कर इतने दिनों से बैरिस्टर के साथ काम सीख रहा था। गत वर्ष यह अटर्नी हुआ है। इसके पिता नवीनराय गुड़ के कारबार से लखपती होकर, कई वर्षों से व्यवसाय छोड़, घर बैठे रुपये का लेन-देन करते हैं। बड़ा लड़का अविनाश वकील है, और छोटा है यही शेखरनाथ। इसका बड़ा तिनतल्ला मकान महल्ले में सब मकानों से ऊँचा है। इसकी एक खुली छत से गुरुचरण की छत मिली हुई है; जिससे दोनो परिवारो मे बड़ी आत्मीयता हो गई है। घर की स्त्रियाँ इसी रास्ते से आती-जाती हैं।

२

बहुत दिनो से श्यामबाजार के एक बड़े आदमी के घर में शेखर के विवाह की बात चल रही थी। उस दिन वे लोग वर देखने आये और आगामी माघ महीने में विवाह का कोई शुभ दिन निश्चय कर जाना चाहा। किन्तु शेखर की माँ ने इसे स्वीकार नहीं किया। दासी द्वारा बाहर कहला भेजा कि जब लड़का स्वयं कन्या को देखकर पसन्द कर आवेगा, तभी मैं उसका ब्याह करूँगी।

नवीन राय की आँखे केवल रुपये की ओर थीं। वे गृहणी की

गोलमाल की बात सुनकर अप्रसन्न हो बोले—अब यह कैसी बात ? कन्या तो देखी ही हुई है। बातचीत ठीक हो जाय, फिर आशीर्वाद के दिन तो अच्छी तरह से देखना ही होगा।

तथापि, गृहिणी ने स्वीकार नहीं किया—बात पक्की होने नहीं दी। फलतः उस दिन नवीन राय ने क्रुद्ध होकर देर से भोजन किया और उनका दिन का सोना बाहर के कमरे में ही हुआ।

शेखरनाथ जरा शौकीन आदमी है। उस तिमंजले के जिस कमरे में वह रहता है, वह अतिशय सुसज्जित है। पाँच-छः दिन बाद, एक दिन अपराह्न समय, वह उस कमरे के बड़े आईने के सामने खड़ा होकर कन्या देखने जाने की तैयारी कर रहा था, कि ललिता उस कमरे में घुसी। कुछ देर चुप-चाप देखती रहकर पूछ बैठी—क्या लड़की देखने जाओगे ?

ललिता ने सिर हिलाकर कहा—नहीं।

और कुछ बड़ी हो लो, तब समझ सकोगी—ऐसा कहता हुआ पैर में जूते पहनकर शेखर बाहर चला गया।

रात में शेखर एक कोच के ऊपर चुपचाप सोया हुआ था। माँ ने घर में प्रवेश किया। वह जल्दी उठ कर बैठ गया। माँ एक कुर्सी पर बैठ कर बोली—लड़की को कैसी पाया?

शेखर ने माँ के मुख की ओर देखकर मुस्कुराते हुए कहा—बहुत अच्छी।

शेखर की माँ का नाम है भुवनेश्वरी। अवस्था पचास के लगभग होगी, किन्तु उसकी देह की गठन ऐसी सुन्दर है कि देखने में वह पैंतीस-छत्तीस से अधिक की नहीं मालूम पड़ती और इस सुन्दर शरीर में जो मातृ-हृदय है वह और भी कोमल, और भी नवीन। वह गँवई की लड़की है; दिहात में ही जन्म लेकर वहीं वह बड़ी हुई थी; किन्तु शहर में उसे किसीने एक दिन भी शहर के अनुपयुक्त नहीं पाया। शहर की चंचलता, सजीवता और आचार-व्यवहार वह जिस सरलता से ग्रहण कर सकी है, उसी प्रकार उसने जन्मभूमि की निविड़ निस्तब्धता और माधुर्य को नहीं भुलाया है। इस माँ के लिए शेखर को कितना गर्व है, यह उसकी माँ भी नहीं जानती है। जगदीश्वर ने शेखर को बहुत कुछ दिया है। असाधारण स्वास्थ्य, रूप, ऐश्वर्य्य, बुद्धि—किन्तु ऐसी जननी की सन्तान होने के सौभाग्य को वह भगवान् की सब से बड़ी कृपा समझता है।

माँ ने कहा—बहुत अच्छी कहकर चुप क्यों रह गया?

शेखर इस बार हँस कर और मुख नीचे कर बोला—गो[illegible]
उसका जवाब दिया।

माँ भी हँस पड़ी। बोली—क्या कहा? रंग कैसा है[illegible]
गोरा? किसके ऐसी है—हमारी ललिता-सी?

शेखर ने मुख उठा कर कहा—ललिता तो काली है[illegible]
उससे वह गोरी है।

मुखड़ा कैसा है?

वह भी बुरा नहीं।

तो क्या मालिक से कहूँ?—इस बार शेखर चुप र[illegible]

माँ कुछ देर तक पुत्र के मुख की ओर देख कर पूछ बैठीं—[illegible]
तो लड़की ने लिखना-पढ़ना कैसा सीखा है?

शेखर ने कहा—यह तो पूछा नहीं।

अतिशय आश्चर्यान्वित होकर माँ ने कहा—क्या! न[illegible]
पूछा? आज कल जिसकी आवश्यकता तुम लोगों को सबसे अधि[illegible]
है, वही नहीं पूछा?

शेखर ने हँसकर कहा—नहीं माँ, यह बात मुझे याद न[illegible]

ललिता ने चुपके-से कहा—कुछ नहीं माँ ।

ललिता पहले उसे मौसी कहा करती थी। किन्तु उसने उसे [illegible]ना कर कहा था—तुम्हारी तो मैं मौसी नहीं हूँ ललिते, माँ हूँ। [illegible]ब से वह भुवनेश्वरी को 'माँ' कहा करती थी। भुवनेश्वरी ने [illegible]से अपनी छाती की ओर खींचकर आदर से कहा—कुछ भी नहीं ? तब मालूम होता है मुझे एक बार देखने ही आई हो।

ललिता चुप रही।

शेखर ने कहा—देखने आई है, रसोई किस समय बनावेगी?

मां ने कहा—रसोई क्यों बनायगी ?

शेखर ने आश्चर्यित होकर कहा—तो कौन उन लोगों की रसोई बनावेगा ? इसके मामा ने भी तो उस दिन कहा था कि ललिता ही रसोई-पानी करेगी।

माँ हँस पड़ी। बोली—क्या इसके मामा के कहने ही से होगा। इसकी शादी अभी हुई नहीं—इसके हाथ का खायगा कौन ? मैंने अपने रसोइये को भेज दिया है, वही रसोई बनायेगा। बड़ी बहू हम लोगों का खाना बनाती हैं। मैं आजकल दोपहर को वहीं खाती हूँ।

शेखर समझ गया—माँ ने इस दुःखी परिवार का गुरुतार भार अपने ऊपर ले लिया है। अतएव, वह एक तृप्तिसूचक निश्वास छोड़कर चुप हो गया।

लगभग एक महीने के बाद एक दिन सन्ध्या के पश्चात् शेखर अपने कमरे में एक कोच पर करवट लेटा हुआ एक अंग्रेजी उपन्यास पढ़ रहा था। खूब मन लग गया था। ऐसे ही समय ललिता घर में घुस कर तकिये के नीचे से कुंजी ले, खटखट करती

हुई, दराज खोलने लगी। शेखर पुस्तक से बिना मुँह हटाये ही बोला—क्या है? ललिता ने कहा—रुपये ले रही हूँ। शेखर 'हूँ' कहकर पढ़ने लगा। ललिता अंचल में रुपये बाँधकर उठ खड़ी हुई। आज वह बन-ठन कर आई थी; वह चाहती थी कि शेखर उसे देखे। बोली—दस रुपये लिये हैं शेखर भैया। शेखर ने 'अच्छा' कह दिया—किन्तु मुँह उठाकर नहीं देखा। लगातार वह इधर-उधर करने लगी, झूठ-मूठ देर करने लगी। किन्तु जब कुछ भी इससे काम न चला तो धीरे-धीरे बाहर चली गई। किन्तु जाने से भी काम न चला। फिर उसे लौट कर चौखट के निकट खड़ा होना पड़ा। आज वह थियेटर देखने जायगी।

इस बार शेखर सुन सका। किताब एक ओर रखकर पूछा—क्या बात है ?

ललिता कुछ रुष्ट होकर बोली—मालूम होता है, अब सुनाई पड़ा है। हम लोग थियेटर देखने जा रही हैं।

शेखर बोला—हम लोग कौन ?

मैं, आनन्दकाली, चारुबाला का भाई, चारुबाला और उसके मामा।

यह मामा कौन ?

ललिता ने कहा—उनका नाम है गिरीन्द्र बाबू। पाँच-छः दिन हुए अपने घर मुँगेर से आये हैं। यहाँ बी० ए० में पढ़ेंगे। अच्छे आदमी हैं।

वाह ! नाम-धाम, पेशा-धंधा—देखता हूँ, सब कुछ खूब मालूम हो गया। उसीसे चार-पाँच दिनों तक छाया भी देख न पड़ी। मालूम होता है, ताशबाजी होती थी।

एकाएक शेखर के बोलने का यह सुर देखकर ललिता डर गई। उसने सोचा भी नहीं था कि ऐसा प्रश्न उठ खड़ा होगा। वह चुप हो रही।

शेखर ने कहा—इधर कई दिनों से ताश तो खूब चलता है न ?

ललिता ने दबी जबान से कहा—चारु ने कहा था ?

चारु ने कहा था। क्या कहा था ? ऐसा कह कर शेखर ने सिर उठाकर उसकी ओर देखते हुए कहा—एक दम कपड़ा पहन कर तैयार होकर आई हो ? अच्छा जाओ।

ललिता गई नहीं। उसी जगह चुपचाप खड़ी रही।

पड़ोस के घर की चारुबाला उसकी समवयस्का एवं सखी है। वे लोग ब्राह्म हैं। शेखर इस गिरीन्द्र को छोड़कर और सब को पहचानता है। पाँच-सात वर्ष पहले गिरीन्द्र कुछ दिनों के लिए यहाँ आया था। अब तक बाँकीपुर में पढ़ता था। इतने दिनों तक कलकत्ता आने का न प्रयोजन था, और न आया ही। इसीलिए शेखर उसे नहीं पहचानता था। ललिता अब तक खड़ी है, यह देखकर शेखर ने कहा—गऊ-मूढ़ क्यों खड़ी हो, जाओ। इतना कहकर उसने फिर किताब उठाकर अपने मुख के सामने कर लिया।

लगभग पाँच मिनट चुप खड़ी रहने के बाद ललिता ने धीरे-धीरे से पूछा—जाऊँ?

जाने ही को तो कहा है, ललिता।

शेखर का भाव देखकर ललिता की थियेटर जाने की [illegible] मिट गई। किन्तु उसके न जाने से भी तो नहीं बनता।

बात हुई थी कि आधा खर्च वह देगी और आधा चा[illegible] के मामा।

ललिता चौंक उठी। शेखर से झिड़कियाँ सुनने का अभ्यास उसे नया नहीं था। किन्तु दो-तीन वरसों से ऐसी कभी नहीं सुनी थी। उस ओर सभी साथी राह देख रहे हैं। वह स्वयं भी कपड़े पहनकर तैयार है। इसी बीच मे रुपये लाने के समय यह विपत्ति आ घटी। इस समय उन लोगों के सम्मुख वह क्या कहेगी?

कहीं जाने-आने के सम्बन्ध मे आजतक उसे शेखर की ओर से पूरी स्वाधीनता मिली हुई थी। इसी बल पर आज वह एकदम कपड़े पहनकर तैयार हो आई थी। इस समय केवल उसकी वह स्वाधीनता ही एकवारगी नष्ट हो गई हो—इतना ही नहीं, किन्तु जिस कारण से उसकी यह स्वाधीनता नष्ट हुई है, वह कारण कितनी बड़ी लज्जा का है, इसका तेरह वर्ष की उमर मे प्रथम-प्रथम अनुभव कर वह लज्जा से मरी जाती थी। अभिमान से उसकी दोनो आखों में आँसू भर आये। कुछ देर और खड़ी रहकर, आँखें मलती, वह चली गई। अपने घर जाकर दासी द्वारा आनन्दकाली को बुला, उसके हाथ मे दस रुपये देकर कहा—तुम लोग आज जाओ। मेरी तवीयत बड़ी खराव हो गई है। सखी से कहना कि मैं नहीं जा सकती।

काली ने पूछा—क्या हुआ है बहिन?

सिर में दर्द है, और सारे शरीर में बड़ी पीड़ा। ओफ, मिचली आती है!—इतना कह वह फिर करवट वदलकर सो गई। उसके वाद चारु ने आकर बड़ा जोर लगाया, मामी से सिफारिश भी कराई, किन्तु किसी प्रकार वह राजी नहीं हुई। आनन्दकाली हाथ मे दस रुपये पाकर जाने के लिए छटपट कर रही थी। पीछे, इस हंगामे से कहीं जाना रुक न जाय, इस भय

ललिता ने मन-ही-मन अत्यन्त विपद्ग्रस्त हो, रोनी-सी मुँह बना कर, जताया कि आज वह किसी तरह नहीं जा सकती। हाँ, कल जायगी। मनोरमा ने इसपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। अन्त में मामी को कह कर उसे खींच कर वह ले गई। आज भी उसे गिरीन्द्र के विपक्ष में ही बैठ कर ताश खेलना पड़ा। किन्तु खेल जमा नहीं। इस ओर वह जरा भी ध्यान नहीं दे सकी। बराबर अनमनी बनी रही और समय होने के पूर्व ही चली गई। जाते समय गिरीन्द्र ने कहा—रात आपने रुपये भेज दिये, किन्तु गईं नहीं। कल फिर चलिये।

ललिता सिर हिला कर कोमल कंठ से बोली—नहीं, मेरी तबीयत बहुत खराब थी।

गिरीन्द्र ने हँसकर कहा—अब तो तबीयत अच्छी हो गई है; चलिये, कल जरूर चलना होगा।

नहीं, नहीं, कल मुझे समय नहीं मिलेगा—ऐसा कह कर ललिता तेजी से चली गई। आज केवल शेखर के भय से ही उसका मन न लगा, यह बात नहीं, किन्तु उसे स्वयं भी बड़ी लज्जा होती थी।

शेखर के घर के ही समान वह इस घर में भी बचपन से ही आती-जाती थी, और अपने घर के लोगों के ही समान सब के सामने होती थी। इसलिए चारु के मामा के सामने होने और बात करने में उसे पहले ही दिन से कुछ भी द्विविधा न हुई। किन्तु आज गिरीन्द्र के सामने बैठकर ताश खेलते समय, बराबर ही, न जाने क्यों, उसके मन में होता था कि गिरीन्द्र कुछ दिनों के परिचय से ही उसे प्रीति की दृष्टि से देखता है। पुरुष की प्रीति

की आँखें ऐसी लज्जा की वस्तु है—इस बात की कल्पना उसे इसके पहले कभी भी नहीं हुई थी।

अपने घर में एक झाँकी देकर वह झटपट शेखर के घर में जा घुसी और शीघ्र ही काम में लग गई। बचपन से ही इस घर का छोटा-मोटा काम इसे ही करना पड़ता है। किताबों को सजा कर रखना, टेबिल को सुसज्जित करना, दावात कलम को साफ कर कर ठीक से रखना—ये सब काम उसके छोड़कर और कोई नहीं करता। छः-सात दिन की अवहेलना से ही बहुत काम पड़े हुए थे। इन सभी त्रुटियों को, शेखर के आने के पूर्व ही, दूर करने के लिए एक-बारगी वह कमर कस कर लग पड़ी।

मन में न उठी थी। न ललिता के घर पर किसी को ऐसी सम्भावना थी, न भुवनेश्वरी के मन में ही।

ललिता ने सोच रखा था कि शेखर के आने के पहले ही काम समाप्त कर चली जाऊँगी; किन्तु अन्यमनस्क होने के कारण घड़ी की ओर उसका ध्यान नहीं गया। हठात् दरवाजे पर जूते की मचमचा-हट सुनकर मुख उठाकर देखा और एक ओर हटकर खड़ी हो गई!

शेखर ने कमरे में घुसते ही कहा—हाँ, तो कल रात लौटने में कितनी देर हुई।

ललिता ने जवाब नहीं दिया।

शेखर एक गद्दीदार आरामकुर्सी पर लेटकर बोला—कब लौटी? दो बजे? तीन बजे?—बोलती क्यों नहीं?

ललिता उसी प्रकार चुप चाप खड़ी रही।

शेखर ने विरक्त होकर कहा—नीचे जाओ, माँ पुकार रही है।

भुवनेश्वरी भंडार के सामने बैठकर जलपान सजा रही थी। ललिता निकट आकर बोली—क्या पुकार रही थी माँ?

क्या? मैंने तो नहीं पुकारा!—ऐसा कहकर भुवनेश्वरी ने मुख उठाकर उसके मुख की ओर देखा और कहा—तुम्हारा मुख ऐसा सूखा हुआ क्यों है, ललिते? मालूम होता है अभी तक कुछ खाया नहीं?

ललिता ने केवल सिर हिला दिया।

भुवनेश्वरी ने कहा—अच्छा अपने भैया को जलपान देकर मेरे पास आओ।

ललिता जलपान हाथ में लेकर कुछ देर मे ऊपर आई। उसने देखा—उस समय तक शेखर उसी प्रकार आँख मूँदे पड़ा है।

मुझे भूख लगी है माँ, मैं और नहीं जा सकती; और कोई जाकर दे आवे—ऐसा कहकर ललिता चट बैठ गई।

माँ उसके रुष्ट मुखड़े की ओर देखकर कुछ मुस्कुराई और बोली—अच्छा तू खाने बैठ। दासी द्वारा भेज देती हूँ।

ललिता जवाब न देकर खाने बैठ गई।

वह थियेटर देखने गई नहीं, तो भी शेखर ने बक-झक की—इसी रंज से चार-पाँच दिनों तक वह शेखर के सामने नहीं हुई। फिर भी उसके आफिस चले जाने पर दो पहर के समय उसके कमरे में जाकर सब काम कर देती। शेखर ने अपनी भूल जानकर उसे दो दिन बुला भेजा, किन्तु वह गई नहीं।

४

इस मुहल्ले में एक अतिवृद्ध भिखारी कभी-कभी भीख माँगने आता था। उसके ऊपर ललिता की बड़ी दया थी। उसके आने पर प्रत्येक बार वह उसे एक रुपया देती। रुपया हाथ में लेकर वह बहुत तरह के अपूर्व और असम्भव आशीर्वाद देता। उन्हे ललिता मन लगा कर सुनती और बहुत खुश होती। वह कहता कि पूर्व जन्म में ललिता मेरी माँ थी; इसी लिए उसने पहली ही बार देखते ही उसे पहचान लिया था। उसका वही वृद्ध बालक आज सबेरे ही द्वार पर आकर पुकारने लगा—माँ, कहाँ हो?

सन्तान की पुकार सुनकर आज ललिता कुछ खिन्न हो गई। इस समय शेखर कमरे में है, वह रुपया लावे किस तरह? इधर-उधर देख कर वह मामी के निकट गई। मामी अपनी दासी के साथ बक-झक कर विरक्त हो रसोई बनाने बैठी थीं। उसमें कुछ

न कहकर वह लौट आई और बाहर झाँका तो भिखारी को दरवाजे पर लाठी टेकाये जमकर बैठा पाया। इसके पहले ललिता ने उसे कभी निराश नहीं किया था। आज खाली हाथ उसे लौटाना ललिता को ठीक नहीं मालूम पड़ा।

भिखारी ने फिर पुकारा।

आनन्दकाली ने दौड़ती हुई आकर खबर दी—बहिन, गुन्ना वह बैठा आया है।

ललिता ने कहा—काली, एक काम कर दो। मेरा हाथ फँसा हुआ है। तुम दौड़कर तनिक शेखर भैया से एक रुपया माँग लाओ।

काली दौड़ती हुई चली गई और एक क्षण में वैसे ही दौड़ती हुई आकर ललिता के हाथ में एक रुपया रखकर बोली—यह लो।

ललिता ने पूछा—शेखर भैया ने क्या कहा?

कुछ नहीं, उनके पतलून के पाकेट से रुपया ले लेने को कहा, मैं ले आई।

और कुछ नहीं कहा।

काली ने सिर हिलाकर कहा—हाँ, जाती तो हूँ।

मेरी बात शेखर भैया नहीं पूछते?

नहीं। हाँ-हाँ, परसो पूछते थे—तुम दोपहर को ताश खेलती हो या नहीं?

ललिता ने उद्विग्न होकर पूछा—तुमने क्या कहा?

काली ने कहा—तुम दोपहर को चारु के घर ताश खेलने जाती हो, यही कह दिया। शेखर दादा ने पूछा—कौन कौन खेलता है? मैंने कहा—तुम, सखी की माँ, चारु बहिन और उसके मामा। अच्छा, तुम अच्छा खेलती हो या चारु बहिन के मामा? सखी की माँ कहती थी—तुम अच्छा खेलती हो, क्या नहीं?

ललिता ने उसका जवाब न दे अत्यन्त अनमनी होकर कहा—तुमने यह सब क्यों कहा? तुमको सब बात मे कुछ-न-कुछ कहना ही चाहिये? जा, अब से किसी दिन तुम्हें कुछ न दूँगी? इतना कह कर वह रंज होकर चली गई।

काली अवाक् रह गई। उसके इस आकस्मिक भाव परिवर्त्तन का कारण वह कुछ नहीं समझ सकी।

मनोरमा का ताश खेलना दो दिनों से बन्द है। ललिता नहीं जाती। उसे देखते ही, जो गिरीन्द्र उस पर आकृष्ट हो गया था, इसका सन्देह मनोरमा को पहले से ही था। आज वह सन्देह और दृढ़ हो गया।

इन दो दिनो से गिरीन्द्र बहुत ही उत्सुक और अन्यमनस्क हो चला था। अपराह्न समय टहलने नहीं जाता, जब-तब घर के भीतर आकर इस कमरे से उस कमरे मे जाता। आज दोपहर को आकर कहा—बहिन, आज भी खेल नहीं होगा?

मनोरमा ने कहा—किस प्रकार होगा गिरीन्द्र ? लोग यदि न हों, तो आओ, हम तीन जने ही खेलें।

गिरीन्द्र ने निरुत्साहित होकर कहा—तीन जने से कहीं खेल होता है बहिन। उस घर की ललिता को बुला भेजो न !

वह नहीं आयगी।

गिरीन्द्र ने उदास होकर पूछा—क्यों नहीं आयगी ? उसके घर वालों ने उसे मना कर दिया है क्या ?

मनोरमा सिर हिलाकर बोली—नहीं, उसके मामी-मामा उस तरह के आदमी नहीं हैं। वह स्वयं ही नहीं आती।

गिरीन्द्र ने झट प्रसन्न होकर कहा—यदि ऐसा है, तो तुम्हारे स्वयं जाने से वह अवश्य ही आयगी। ऐसी बात बोलकर वह स्वयं अपने मन में अत्यन्त अप्रतिभ हो गया।

मनोरमा ने हँस कर कहा—अच्छा, तो मैं जाती हूँ। और, वह चली गई। कुछ ही देर के बाद वह ललिता को पकड़ कर ले आ पहुँची। सब ताश लेकर बैठ गये।

दो दिनों से खेल नहीं हुआ था। आज थोड़ी ही देर में खेल खूब जम गया। ललिता की बारी जीत रही थी।

थोड़ी देर के बाद अन्नदा दासी आकर खड़ी हो गई और बोली—ललिता, शेखर भैया बुला रहे हैं—जल्दी चलो।

ललिता का मुख फीका पड़ गया। [illegible] मनोरमा ने पूछा—शेखर भैया क्या आफिस नहीं गये ?

क्या मालूम, शायद अभी आये हैं—कहकर ललिता सिर हिलाती हुई चली गई।

ललिता ने ताश रख कर मनोरमा के मुख की ओर देखा और ठित होकर कहा—जाती हूँ सखी की माँ।

मनोरमा ने उसका हाथ पकड़कर कहा—यह क्या? दो हाथ और खेलकर जाओ।

ललिता व्यस्त होकर उठ खड़ी हुई और—नहीं सखी की माँ, सा करने से वे बड़े रंज हो जायँगे—ऐसा कह कर जल्दी-ल्दी चली गई।

गिरीन्द्र ने पूछा—यह शेखर भैया कौन है बहिन?

मनोरमा ने कहा—वह सामने के फाटक वाले बड़े मकान के ालिक।

गिरीन्द्र ने सिर हिला कर कहा—वह, वही मकान। क्या वीन बाबू इनके आत्मीय है?

मनोरमा ने लड़की के मुख की ओर देख कर मुस्कुराती हुई हा—आत्मीय कैसा? वे तो ललिता के घर तक को आत्मसात् रने के प्रयत्न मे है।

गिरीन्द्र अचम्भित होकर मनोरमा का मुख देखता रहा।

मनोरमा फिर किस्सा कहने लगी। किसी प्रकार गत वर्ष पये के अभाव से गुरुचरण बाबू की मँझली लड़की का विवाह नहीं ोता था; फिर किस तरह बे-हिसाब सूद पर नवीन राय ने रुपये ेकर उनके घर तक को बन्धक करा लिया, ये रुपये किसी तरह कभी धेंगे नहीं, और नवीन बाबू अन्त मे इस मकान को ले लेगे।

मनोरमा ने सारी बातें कह कर अन्त में मन्तव्य प्रकाशित िया कि बूढे की आन्तरिक इच्छा है कि गुरुचरण बाबू के इस टे-फूटे मकान को तोड़ कर उसी जगह छोटे लड़के शेखर के लिए

एक बड़ा मकान तैयार कराया जाय। दो लड़कों के लिए दो अलग अलग मकान—मतलब कुछ बुरा नहीं।

यह हाल सुन कर गिरीन्द्र को कुछ दुख मालूम हुआ पूछा—अच्छा बहिन, गुरुचरण बाबू को और भी तो लड़कियाँ हैं तब उनके विवाह वे किस तरह करेंगे ?

मनोरमा ने कहा—अपनी लड़कियाँ तो हैं ही, उनके अतिरिक्त यह ललिता है। इसे बाप-माँ नहीं हैं। सारा बोझ उसी गरीब के ऊपर है। बड़ी हो चली है। इस वर्ष के भीतर बिना ब्याहे बनेगा नहीं। उनके समाज में सहायता करने के लिए तो कोई नहीं जाति लेने के लिए सभी हैं। हमी लोग अच्छे हैं गिरीन्द्र।

गिरीन्द्र चुप हो रहा। वह फिर कहने लगी—उस दिन ललिता की बात लेकर उसकी मामी मेरे निकट रो पड़ी, कैसे क्या होगा इसका कुछ निश्चय नहीं है। इसी की सोच से गुरुचरण बाबू के पेट में अन्न-जल नहीं जाता। हाँ, गिरीन्द्र, मुँगेर में तुम्हारे कोई ऐसे बन्धुबांधव नहीं हैं, जो केवल लड़की देख कर ही शादी करें। ऐसी लड़की भाग्य से मिलती है।

गिरीन्द्र विषण्ण भाव से मीठी हँसी हँसकर बोला—बन्धु-बान्धव और कहाँ पाऊँगा बहिन ? हाँ, रुपये देकर मैं सहायता कर सकता हूँ।

गिरीन्द्र के पिता डाक्टरी करके बहुत रुपये एवं यथेष्ट सम्पत्ति छोड़ गये थे। गिरीन्द्र ही उन सब का मालिक है।

मनोरमा ने कहा—रुपये तुम कर्ज दोगे ?

कर्ज क्या दूँगा बहिन। इच्छा होने पर वे लौटा देंगे, नहीं होने से नहीं देंगे।

मनोरमा चकित हो गई और बोली—तुम्हें रुपये देने से फ़ायदा? वे लोग न हमारे आत्मीय है और न समाज के ही हैं। इस प्रकार कौन किसको रुपये देता है?

गिरीन्द्र अपनी बहिन के मुख की ओर देख कर हँसने लगा। फिर बोला—समाज के लोग हो या न हो, बंगाली तो हैं। उन्हे अत्यन्त आवश्यकता है और मुझे उसकी प्रचुरता है। बहिन, तुम एक बार उनसे पूछो तो। वे यदि लेने को राजी हो, तो मै दे सकता हूँ। ललिता न उन्हीं की कोई है और न हम लोगो की ही कोई। उसके विवाह का सारा खर्च, न होगा, तो मै ही दूँगा।

उसकी बाते सुन कर मनोरमा अधिक सन्तुष्ट नहीं हुई। इससे उसका कुछ अपना हानि-लाभ नही, तथापि इतने रुपये एक आदमी दूसरे को दे, यह बहुतेरी स्त्रियाँ प्रसन्न चित्त से नहीं देख सकती।

चारु अब तक चुप-चाप सुनती थी। वह अति प्रसन्न होकर उठी और बोली—तो दो मामा, मै सखी की माँ को कहे आती हूँ।

उसकी माँ ने डाँट कर कहा—ठहरो चारु, तुम बच्ची हो, इन बातो मे मत पड़ो। कहना होगा तो मैं ही कहूँगी।

गिरीन्द्र ने कहा—तो तुम्ही पूछो बहिन। परसो रास्ते में गुरुचरण बाबू से कुछ बाते हुई थी। बात-चीत से मालूम हुआ कि वह बड़े सरल आदमी है। तुम्हारी क्या राय है?

मनोरमा ने कहा—मै भी यही कहती हूँ। सभी यही कहते हैं। वे दोनो स्त्री-पुरुष बड़े सीधे-सादे आदमी है। इसी लिए तो दुःख भोग रहे हैं गिरीन्द्र! ऐसे लोगो को भी घर-द्वार छोड कर निराश्रय

होना पड़ेगा ! इसका प्रमाण भी देख ही चुके हो। शेखर बाबू की पुकार सुनते ही ललिता किस प्रकार जल्दी-जल्दी उठ दौड़ी। उस घर के सभी ने मानों उन लोगों के हाथ अपने को बेच दिया है। किन्तु कितनी भी खुशामद क्यों न करे, नवीन राय के हाथ में एक बार जब पड़ गये, तो रेहाई पाने की आशा कोई कर नहीं सकता।

गिरीन्द्र ने पूछा—तो उनसे पूछोगी न बहिन ?

अच्छा, पूछूँगी। यदि रुपये देकर तुम उपकार कर सको, तो अच्छा ही है। इतना कह कर हँसती हुई फिर बोली—अच्छा तुम्हें इतनी ममता क्यों है गिरीन्द्र ?

ममता और क्यों हो बहिन, दुःख-कष्ट में परस्पर सहायता करनी ही पड़ती है—ऐसा कह कर वह कुछ लज्जित होकर चला गया। किन्तु दरवाजे के बाहर जाकर एक बार फिर आ बैठा।

उसकी बहिन ने कहा—अब फिर बैठ गये ?

गिरीन्द्र ने हँसते हुए कहा—इतना जो तुमने रोया-गाया बहिन, वह सब सच नहीं मालूम पड़ता।

मनोरमा ने विस्मित होकर कहा—क्यों ?

गिरीन्द्र कहने लगा—उनकी ललिता जिस तरह रुपये खर्च करती है, वह तो गरीब के समान कभी भी नहीं है। उस दिन हम लोग थियेटर देखने गये। वह स्वयं नहीं गई। तो भी दस रुपये देकर उसने अपनी बहिन को भेज दिया। चार मैं पूछो न, वह किस तरह खर्च करती है। एक महीने में बीस-पचीस रुपये से कम में उसका निजी खर्च नहीं चलता।

मनोरमा को इस पर विश्वास नहीं हुआ।

चारु ने कहा—सचमुच माँ। वे सब शेखर बाबू के रुपये हैं। केवल इसी बार नहीं; बचपन से ही वह अपने शेखर भैया की आलमारी खोल कर रुपये ले आती है। कोई कुछ नहीं कहता।

मनोरमा अपनी लड़की से सन्दिग्ध भाव से पूछ बैठी—रुपये लेना क्या शेखर बाबू जानते है ?

चारु ने सिर हिला कर कहा—जानते हैं। सामने ही ताला खोल कर ले आती है। गत महीने मे आनन्दकाली की गुड़िये की शादी में इतने रुपये किसने दिये थे ! सभी तो सखी ने ही दिये थे।

मनोरमा सोच कर बोली—क्या मालूम ? किन्तु यह बात भी ठीक है। बूढ़े के समान लड़के मक्खीचूस नही हैं। उन लोगों ने माता से हृदय पाये हैं। इसी लिए उनमें दया-धर्म है। इसके अलावे ललिता भी साधारण लड़की नही है। बहुत अच्छी है। बचपन से ही साथ-साथ रहती है, भैया कह कर पुकारती है। इसी से उस पर सभी माया-ममता रखते हैं। हाँ, चारु, तुम तो वहाँ आती-जाती हो। क्या उनके शेखर का विवाह इस माघ मास मे न होगा ? सुना है बूढ़े को बहुत रुपये मिलेंगे।

चारु ने कहा—हाँ, माँ, इसी माघ महीने मे होगा। सब कुछ ठीक हो गया है।

५

गुरुचरण उस स्वभाव का आदमी है, जिससे सभी उमर के आदमी नि.संकोच होकर बात-चीत कर सकते थे। दो चार दिनों की ही बात-चीत में गिरीन्द्र के साथ उसे एक स्थायी मित्रता हो

राई थी। गुरुचरण के चित्त और मन मे कुछ भी दृढ़ता नहीं थी। फलतः, तर्क करने में वह जिस प्रकार प्रसन्न होता था उसी तरह तर्क में हार जाने पर भी कुछ असन्तोष प्रकाश नहीं करता था।

सन्ध्या के बाद उसने गिरीन्द्र को चाय पीने को सदा के लिए आमंत्रित कर रखा था। आफिस से लौटते-न लौटते उसे सन्ध्या हो जाती थी। हाथ-मुँह धोकर कहता—बेटी ललिते! क्या चाय तय्यार हुई? काली! जा जरा अपने गिरीन्द्र मामा को बुला ला। इसके बाद दोनों चाय पीते और साथ-ही-साथ तर्क चलने लगता।

ललिता किसी-किसी दिन मामा के पीछे बैठ कर चुप-चाप उन लोगों का तर्क सुनती। उस दिन गिरीन्द्र की युक्ति और तर्क और भी सौगुना प्रखर हो जाता। तर्क प्रायः आधुनिक समाज के ही विरुद्ध होता था। सामाज की हृदय-हीनता, असंगत उपद्रव एवं अत्याचार—ये सभी सत्य सिद्ध किये जाते।

एक तो इन सब का समर्थन करने के लिए कोई वास्तविक कारण नहीं, फिर गुरुचरण के अशान्त एवं उत्पीड़ित हृदय के साथ गिरीन्द्र की बातें बहुत मेल खातीं। वह अन्त में बोल उठता—ठीक कहते हो गिरीन्द्र। कौन इच्छा नहीं करता कि अपनी लड़की को यथा-समय अच्छी जगह ब्याह दें, किन्तु ब्याहे किस तरह? समाज कहता है—ब्याह दो, लड़की की उमर हो गई। किन्तु ब्याहने का प्रबन्ध तो वह कर नहीं सकता। क्या कहते हो गिरीन्द्र, यह मुझे ही देखो न! घर तक बन्धक पड़ चुका है। दो दिन बाद बाल-बच्चों को हाथ पकड़ कर रास्ते में भटकना पड़ेगा। समाज उस समय तो यह नहीं कहेगा, कि आओ इस समय मेरे घर में आश्रय लो। क्या कहा जाय!

गिरीन्द्र चुप हो रहता। फिर गुरुचरण आप ही कहने लगता—बहुत ठीक कहा, ऐसे समाज से जातिच्युत होना ही अच्छा। खायें या न खायें, शान्ति से रह तो सकते हैं। जो समाज दुःखी का दुःख नहीं समझता, विपत्ति मे साहस नही देता, केवल आंखे लाल करता और गला घोटता है, वह समाज हमारा नही, हमारे ऐसे गरीबों का नहीं—यह समाज बड़े लोगों के लिए है। अच्छी बात, उनका ही रहे। हमें उसकी आवश्यकता नहीं। इतना कह कर गुरुचरण सहसा चुप हो जाता।

इन युक्ति-तर्कों को ललिता केवल सुनती ही नहीं, वरन् रात में बिछावन पर सोकर जब तक नींद न आजाती, मन-ही-मन इनपर विचार कर देखती। प्रत्येक बात उसके मन पर गम्भीर भाव से मुद्रित हो जाती थी। वह मन-ही-मन कहती—गिरीन्द्र बाबू की बाते सचमुच अतिशय न्याय-संगत है।

मामा को वह बहुत ही प्यार करती थी। अतएव, उसके मामा को अपने पक्ष मे लाकर गिरीन्द्र जो कुछ भी कहता, सभी को वह अभ्रान्त सत्य समझती। उसके मामा विशेष कर उसीके लिए अत्यन्त व्याकुल हो उठते है, अन्न-जल परित्याग कर देते है। उसके यह निर्विरोधी और दुःखी मामा उसे आश्रय देकर ही इतना क्लेश पा रहे है। किन्तु क्यों ? क्यों मामा की जाति जायगी ? आज मुझे व्याह दे और यदि कल मैं विधवा होकर घर लौट आऊँ, तो जाति नही जायगी ? इतना भेद क्यों ? गिरीन्द्र की इन सारी बातों की प्रतिध्वनि को अपने भावातुर हृदय से बाहर कर एक-एक बात की आलोचना करती हुई वह सो जाती।

उसके मामा का होकर और मामा के दुःख को समझ कर जो

कोई बातें करता उसके प्रति वह श्रद्धा न करे, उसके मत से सहमत न हो, ऐसा ललिता के लिए असम्भव था। वह गिरीन्द्र को आन्तरिक श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगी।

क्रमशः गुरुचरण-सा ही वह भी नित्य सन्ध्या के चाय पीने के समय की प्रतीक्षा करने लगी।

पहले गिरीन्द्र ललिता को आप कह कर पुकारता था! गुरुचरण ने मना करते हुए कहा था—उसे अब आप क्यों कहते हो तुम कह कर पुकारो। उसी समय से वह उसे तुम कह कर पुकारने लगा।

एक दिन गिरीन्द्र ने पूछा था—तुम चाय नहीं पीती ललिता!

ललिता को मुँह नीचे करके सिर हिलाते देख गुरुचरण ने कहा था—उसके शेखर भैया की मनाही है। लड़कियों का चाय पीना वह पसन्द नहीं करते।

कारण सुन कर गिरीन्द्र सतुष्ट नहीं हुआ—ललिता ने यह जान लिया।

आज शनिवार है। अन्य दिनों की अपेक्षा आज सभा भंग होने में अधिक विलम्ब होगा।

चाय पीना खतम हो गया था। गुरुचरण आज आलोचना में वैसे उत्साह से भाग नहीं ले सकते थे। बीच बीच में कुछ अन्यमनस्क-से हो जाते थे।

गिरीन्द्र ने सहज ही में लक्ष्य कर प्रश्न किया—आज मालूम होता है, आपका शरीर उतना अच्छा नहीं है।

गुरुचरण हुक्का को मुंह से हटा कर बोला—क्यों? शरीर तो बहुत ही अच्छा है।

गिरीन्द्र ने संकोच के साथ कहा—तो क्या आफिस में कुछ...

नहीं ऐसा भी कुछ नहीं—यों कह कर विस्मय से गुरुचरण ने गिरीन्द्र के मुख की ओर देखा। उसके भीतर का उद्वेग जो बाहर फूटा पड़ता था, उसे यह सरल प्रकृति का मनुष्य जान नहीं सका।

ललिता पहले एक-दम ही चुप रहती थी, किन्तु आज-कल दो एक बातों में बीच-बीच में भाग ले लेती। उसने कहा—हाँ मामा, आज शायद तुम्हारा जी अच्छा नहीं मालूम पड़ता।

गुरुचरण ने हँस कर कहा—हाँ, ऐसी ही बात है। बेटी, तुम ठीक समझी। मेरा जी आज सचमुच ही अच्छा नहीं है।

ललिता और गिरीन्द्र दोनों ही उसके मुख की ओर देखते रहे।

गुरुचरण ने कहा—नवीन भैया ने सब बात जान-सुन कर भी आज रास्ते में कुछ कठोर बातें सुना दी हैं। और, उन्हीं का क्या दोष? छः महीने हो गये। एक पैसा भी सूद में नहीं दे सका। असल तो दूर रहे।

इस बात को जान-बूझ कर दबा देने की इच्छा से ललिता व्यस्त हो उठी। उसके अदूरदर्शी मामा कहीं दूसरे के सामने अपने घर की लज्जाप्रद कथा कह न डालें, इस भय से वह जल्दी बोल उठी—तुम मत सोच करो मामा। यह सब पीछे ठीक होगा।

किन्तु गुरुचरण का इस ओर ध्यान भी न गया। वरन् उसने उदास भाव से हँस कर कहा—पीछे क्या होगा बेटी! देखो तो गिरीन्द्र, मेरी यह बच्ची चाहती है कि यह बूढ़ा मामा कुछ सोच-फिक्र न करे! किन्तु बाहर के लोग तुम्हारे दुखी मामा के दुख को देखकर भी देखना नहीं चाहते, ललिते।

गिरीन्द्र ने पूछा—नवीन बाबू ने आज क्या कहा है ?

गिरीन्द्र इन सब बातो को जानता है, यह ललिता को नहीं मालूम । इसी से उसके प्रश्न को असंगत एवं कौतुहल-पूर्ण जान कर वह मन-ही-मन अत्यन्त क्षुब्ध हो उठी ।

गुरुचरण ने खोल कर कहा—नवीन राय की पत्नी बहुत दिनों से अजीर्ण रोग से पीड़ित हैं । सम्प्रति रोग कुछ बढ़ गया है । अतएव डाक्टरो ने वायु-परिवर्त्तन की व्यवस्था दी है । रुपये की जरूरत है, इसलिए इस समय उन्हें पूरा सूद और कुछ असल में भी देना होगा ।

गिरीन्द्र ने कुछ देर चुप रह कर फिर मृदुकंठ से कहा—एक बात आपसे कहने की बार-बार इच्छा होने पर भी कभी संकोच-वश नहीं कह सका । यदि आप मन में कुछ दूसरा न समझें तो मैं आज कहूँ ।

गुरुचरण हँस पड़ा और बोला—मुझसे कोई कुछ भी कहने में कभी संकोच नहीं करता गिरीन्द्र । क्या बात है ?

गिरीन्द्र ने कहा—बहिन से सुना है, नवीन बाबू का बहुत कड़ा सूद है । इसी से कहता हूँ कि मेरे बहुत से रुपये यों ही पड़े हुए हैं । किसी काम में भी नहीं आते । उन लोगों को रुपये की जरूरत है, तो आप क्यों नहीं अपना ऋण मेरे इन रुपयों से चुका देते ।

ललिता और गुरुचरण दोनों ही आश्चर्य-चकित होकर उसकी ओर देखने लगे । गिरीन्द्र अत्यन्त संकोच के साथ कहने लगा—इस समय तो मुझे रुपये की कुछ विशेष जरूरत नहीं है । जब आपको सुविधा होगी मुझे लौटा देने से काम चल

पगा। उन लोगों को आवश्यकता है, इसीलिए कहा था। यदि...

गुरुचरण ने धीरे धीरे कहा—कुल रुपये तुम दोगे ?

गिरीन्द्र ने मुख नीचे कर कहा—हाँ तो। उन लोगों का
कार होगा।

गुरुचरण प्रत्युत्तर में कुछ बोलना ही चाहता था कि इसी
मय आनन्दकाली छूटी हुई आ धमकी—मँझली बहिन, ओ
झली बहिन, जल्दी करो, शेखर भैया ने कपड़े पहन कर बुलाया।
थियेटर देखने जाना होगा—ऐसा कह कर जिस प्रकार आई थी,
सी प्रकार चली गई। उसकी व्यग्रता देख कर गुरुचरण हँसने
गा। ललिता वैसी ही स्थिर रही।

आन्दकाली एक क्षण के बाद फिर आकर बोली—क्यों,
भी तक उठी नहीं बहिन। हम लोग सभी बाहर खड़े हैं।

इतने पर भी ललिता ने उठने का कोई लक्षण नहीं दिखलाया।
ह बात खतम होने तक सुनकर जाना चाहती थी। किन्तु गुरु
रण काली के मुख की ओर देखकर कुछ मुस्कुराया और ललिता
माथे पर हाथ रखकर बोला—तो, जाओ बेटी, देर मत करो।
म्हारे ही लिए मालूम पड़ता है सभी प्रतीक्षा कर रहे है।

हार कर ललिता को उठना ही पड़ा। किन्तु जाने के पहले
गरीन्द्र के मुख की ओर देखकर वह जिस प्रकार गम्भीर और
कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि डालती हुई धीरे-धीरे बाहर चली गई, उसे
गरीन्द्र ने भी देख पाया।

दस मिनट के बाद कपड़े पहन कर तैयार हो, पान
ने के बहाने से, एक बार फिर बाहर के घर मे उसने दबे पाँव
वेश किया।

गिरीन्द्र चला गया था । गुरुचरण अकेले मोटे मसनद पर माथा रखे आँखे बन्द कर सोया था । उसकी मुँदी हुई आँखों से दोनो ओर आँसू बह-बह कर गिर रहे थे । यह आनन्दाश्रु है यह बात ललिता समझ गई। समझने पर भी उसने गुरुचरण का ध्यान नहीं तोड़ा । जिस प्रकार निशब्द आई थी, उसी प्रकार निशब्द चली गई ।

कुछ ही देर में जब वह शेखर के घरमे आई तब उसकी दोनों आखो मे भी आँसू छलछला रहे थे । काली नहीं थी वह सबसे आगे गाडी में जा बैठी थी । अकेले शेखर अपने कमरे में चुपचाप खड़ा हुआ, मालूम होता है, ललिता की अपेक्षा कर रहा था । मुख उठाते ही शेखर ने उसकी आसुओं से डबडबाई हुई दोनो आखों को देखा ।

वह आठ-दस दिन से ललिता को न देखने के कारण मन-ही-मन अत्यन्त खिन्न था । किन्तु इस समय सब बातों को भूल कर वह उद्विग्न हो बोल उठा—क्या तुम रो रही हो ?

ललिता ने गर्दन नीची कर जोर से माथा हिलाया। इस कई दिनों के बिछोह से शेखर के मन मे कुछ परिवर्त्तन हो गया था अतएव, वह उसके निकट सरक आया और दोनो हाथों मे सहसा ललिता का मुख उठाकर कहा—सचमुच रो रही हो ! क्या हुआ है ?

ललिता इस बार अपने को सँभाल न सकी । उसी जगह बैठकर आँचल से मुँह ढाँप कर रो पडी ।

६

नवीन राय ने कुल असल मय सूद कौड़ी-कौड़ी गिन कर लिये और बन्धकी का कागज लौटाते हुए कहा—कहो तो रुपये किसने दिये ?

गुरुचरण ने नम्र भाव से कहा—भाई इस विषय में कुछ मत पूछिये, कहने की मनाही है।

रुपये लौटाते देखकर नवीन को कुछ भी सन्तुष्टि नहीं हुई। उसे ऐसी आशा भी नहीं थी—इच्छा भी नहीं थी। वरन् उस मकान को तोड़ कर किस प्रकार एक नई अट्टालिका तैयार करावेंगे, यही उन्होंने सोच रखा था। व्यंग करके कहा—उसकी मनाही तो इस समय होवेगी ही। भैय्या, तुम्हारा दोष नहीं, मेरा दोष है। दोष रुपये लौटाने की इच्छा का है। नहीं तो भला यह कलि-काल कहलाता कैसे ?

गुरुचरण अत्यन्त व्यथित होकर बोला—यह क्या कहते हैं भाई जी। आपके रुपये का ऋण ही सधाया है, दया का ऋण तो सधा नहीं सकता।

नवीन हँस पड़े। वे पक्के आदमी है। यदि वे ऐसी बातों पर विश्वास करते, तो गुड़ बेंच कर इतने रुपये इकट्ठे न कर सकते। बोले—यदि तुम सचमुच ऐसा सोचते, भाई, तो इस प्रकार ऋण शोध नहीं करते। नहीं तो, मैंने केवल एक बार रुपये मांगे थे, वह भी तुम्हारी भाभी की बीमारी के कारण ही। मुझे अपनी कुछ जरूरत नहीं थी। अच्छा बताओ, कितने सूद पर मकान बन्धक रखा है।

गुरुचरण ने सिर हिला कर कहा—बन्धक नहीं रखा है
सूद की भी कुछ बात नहीं हुई है।

नवीन ने विश्वास नहीं किया; कहा—तो क्या योंही मिला है

हाँ भैय्या, कुछ ऐसा ही है। लड़का बड़ा सत्पुरुष है, द
का तो मानों प्रत्यक्ष शरीर ही है।

लड़का? लड़का कौन?

गुरुचरण ने इस प्रश्न का कुछ जवाब नहीं दिया, केवल चु
हो रहा। जितना उसने कह दिया था, उतना भी कहना उ
उचित नहीं था।

नवीन ने उसके मन का भाव समझ मुस्कुरा कर कहा—उ
कहना मना है तब जरूरत नहीं है। किन्तु मैंने संसार में बहु
कुछ देखा है, इसलिए सावधान कर देता हूँ भाई। वे कोई भी हों
किन्तु इतनी भलाई करते हुए पीछे कहीं किसी आफत में न डाल दें

गुरुचरण इस बात का और उत्तर न दे, नमस्कार क
दस्तावेज हाथ में लिये घर लौट आया।

प्रायः प्रति वर्ष भुवनेश्वरी इसी समय कुछ दिनों के लि
पश्चिम जाती थी और घूम कर चली आती थी। उसे अजीर्ण की
बीमारी थी, इसमें उसे कुछ लाभ होता था। इस बार रोग कु
विशेष नहीं था, किन्तु नवीन ने अपना काम निकालने के लिए गुरु
चरण से बढ़ा कर कहा था। जो हो यात्रा का आयोजन हो रहा था।

उस दिन भोर से शेखर एक चमड़े के ट्रंक में अपनी आव
श्यकीय विलास-सामग्री सजा कर रख रहा था।

आनन्दकाली ने कमरे में घुस कर कहा—शेखर दादा, कल
तुम लोग क्या जाओगे?

शेखर ने ट्रंक से मुँह उठा कर कहा—काली अपनी मँझली हन को जरा बुला दो। साथ क्या लेगी वह इसी समय दे जाय।

ललिता प्रतिवर्ष माँ के साथ जाती थी; इस बार भी ाह जायगी ऐसा शेखर जानता था।

काली ने सिर हिला कर कहा—इस बार तो बहिन नहीं जायगी।

क्यो नहीं जायगी?

काली बोली--वाह कैसे वह जायगी! माघ-फागुन में उसका याह होगा। बाबूजी वर खोजने के लिए घूम रहे हैं।

शेखर निर्निमेष आँखों से देखता हुआ, स्तब्ध हो, स्थिर रह ाया। काली ने घर पर जो कुछ सुना था सब उत्साह के साथ चुपके-चुपके कहने लगी—गिरीन्द्र बाबू ने कहा है जितने रुपये खर्च हो, अच्छा वर चाहिये। बाबूजी आज भी आफिस नहीं जायँगे, खा ी कर कहीं लड़का देखने जायँगे। गिरीन्द्र बाबू भी साथ जायँगे।

शेखर स्थिर होकर सुनने लगा और क्यों ललिता अब आना नही चाहती इसके भी अनेक कारण वह सोचने लगा।

काली कहने लगी—गिरीन्द्र बाबू बड़े अच्छे आदमी हैं, शेखर भैया! बहिन के ब्याह के समय हम लोगों का घर चचा के यहाँ जो बंधक पड़ गया था, उसके विषय मे बाबा ने कहा था कि अब और दो-तीन महीने के बाद हम लोग सभी को रास्ते-रास्ते भीख माँगते हुए घूमना होगा। इस पर गिरीन्द्र बाबू ने रुपये दिये हैं। कल बाबूजी ने चचा को रुपये लौटा दिये हैं। मँझली बहन ने कहा था कि अब हम लोगो को कोई भय नहीं है। सचमुच कोई भय नही है शेखर भैया।

शेखर प्रत्युत्तर में कुछ भी कह नहीं सका, केवल इसी प्रकार देखता रहा।

काली ने पूछा—क्या सोच रहे हो शेखर भैया ?

इस बार शेखर का ध्यान टूटा। झटपट कह दिया—कुछ भी तो नहीं। काली, तुम अपनी मँझली बहिन को शीघ्र बुला दो। जाकर कहो, मैं बुला रहा हूं। जा, दौड़ कर जा।

काली दौड़ कर चली गई।

शेखर खुले हुए ट्रंक की ओर दृष्टि लगा कर बैठा रहा। किस बात की उसे आवश्यकता है और किसकी नहीं, यह दोनों ही उसकी दृष्टि में समान हो गये।

बुलाहट सुन कर ललिता ने ऊपर आकर पहले खिड़की से देखा कि उसके शेखर भैया जमीन पर बैठे हुए एकटक लगा कर पृथ्वी की ओर देख रहे हैं। उसके मुख का ऐसा भाव, ललिता ने, इसके पहले कभी नहीं देखा था। ललिता को आश्चर्य हुआ; और वह डर भी गई। धीरे-धीरे निकट में आकर ललिता के खड़ी होते ही शेखर आओ कह कर व्यग्र हो खड़ा हो गया।

ललिता ने धीरे-धीरे पूछा—मुझे बुलाया है ?

हाँ कह कर शेखर कुछ समय तक स्थिर हो रहा फिर कहा—कल भोर की गाड़ी से ही माँ को लेकर मैं पश्चिम जा रहा हूँ। इस बार लौटने में कुछ देर होगी। यह चाभी लो, तुम्हारे खर्च के रुपये-पैसे इस दराज में ही हैं।

प्रत्येक बार ललिता भी साथ जाती थी। पिछली बार जाते समय किस प्रकार आनन्द से सब सामग्री उसने इकट्ठी कर ली

थी और इस बार उस काम को शेखर भैया अकेले ही कर रहे हैं—यह उसे खुले ट्रंक को देखते ही याद पड़ गया।

शेखर ने अपना मुख उसकी ओर से हटा कर तथा अपने फँसे हुए गले को कुछ साफ कर कहा—सावधानी से रहना। और यदि कभी कुछ विशेष आवश्यकता हो तो भैया से पता पूछ कर मेरे पास पत्र लिखना।

इसके बाद दोनों ही चुप हो गये। इस बार ललिता साथ नहीं जायगी, इसे शेखर जान गया है और इसका कारण भी संभवतः सुना है, ऐसा मन में जान कर ललिता लज्जा से संकुचित होने लगी।

हठात् शेखर ने कहा—अच्छा, इस समय जाओ, मुझे यह सब सामग्री भी ठीक करनी है। समय हो गया: आज एक बार आफिस भी जाना है।

ललिता खुले हुए ट्रंक के सामने घुटने के बल बैठ कर बोली—तुम स्नान करने जाओ। मैं सब ठीक कर लेती हूँ।

तब तो अच्छा ही होगा—ऐसा कह कर शेखर ने चाभी का गुच्छा ललिता के निकट फेंक दिया। इसके बाद वह घर के बाहर हो गया और फिर सहसा ठहर कर खड़ा-खड़ा बोला—मुझे किस चीज की जरूरत है, यह तो भूल नहीं गई हो ?

ललिता माथा झुका कर ट्रंक में रखी सामग्री की परीक्षा करने लगी। उसने इस बात का जवाब नहीं दिया।

शेखर नीचे जाकर माँ से पूछ कर जान गया कि काली के सभी सम्वाद सत्य हैं। गुरुचरण ने ऋण परिशोध कर दिया है, यह बात सत्य है, ललिता के लिए वर ठीक करने की भी विशेष

चेष्टा हो रही है, यह बात भी बिलकुल ठीक है। वह और कुछ पूछे बिना ही स्नान कर वहाँ से चला गया।

दो घंटे के बाद स्नान-भोजन समाप्त कर आफिस का कपड़ा पहनने के लिए जब वह अपने कमरे में गया तब वह सचमुच अवाक् रह गया।

इन दो घन्टों में ललिता ने कुछ भी नहीं किया था। ट्रंक के एक किनारे पर सिर रखे चुपचाप बैठी थी। शेखर के पैर के शब्द से चकित हो उसने मुख उठा कर फिर गर्दन झुका ली। उसकी दोनों आँखें ओड़हुल के फूल की तरह लाल हो गई थीं।

किन्तु शेखर ने उसे देखकर भी नहीं देखा। आफिस की पोशाक पहनते-पहनते सहज भाव से कहा—इस समय नहीं हो सकेगा ललिता। दोपहर को आकर सजाकर रखना। ऐसा कह कर तय्यार हो शेखर आफिस चला गया। वह ललिता की लाल आँखों का कारण समझ गया था, किन्तु सब बातों को अच्छी तरह सोचने के पहले उसे और कुछ बोलने का साहस न हुआ।

उस दिन सन्ध्या समय दोनों मामा को चाय देने आकर ललिता सहसा बड़ी लज्जा में पड़ गई। आज शेखर वहाँ बैठा था। वह गुरुचरण बाबू से विदा लेने आया था। ललिता गर्दन झुकाये हुए दो प्याला चाय तय्यार कर गिरीन्द्र और अपने मामा के सामने रख ही रही थी कि गिरीन्द्र बोला—शेखर बाबू को तुमने चाय नहीं दी ललिता?

ललिता मुख बिना उठाये धीरे-धीरे बोली—शेखर भैया चाय नहीं पीते।

गिरीन्द्र ने और कुछ नहीं कहा। ललिता की बात उसे याद

पड़ गई कि शेखर न स्वयं चाय पीते हैं न यह चाहते हैं कि दूसरा कोई पीये।

चाय का प्याला हाथ में लेकर गुरुचरण ने वर की बात आरम्भ की। लड़का बी० ए० मे पढ़ता है इत्यादि बहुत-सी बातें विस्तृत रूप से कह कर अन्त में बोला—किन्तु हमारे गिरीन्द्र को पसन्द नहीं है। अवश्य ही लड़का देखने में उतना सुन्दर नहीं है, किन्तु पुरुषों का रूप और किस काम में आता है; गुण होना ही यथेष्ट है। किसी प्रकार विवाह हो जाने ही से गुरुचरण एक ठंढी सांस लेकर बच सकेगा।

शेखर के साथ गिरीन्द्र का यही सामान्य परिचय हुआ था। शेखर ने उसकी ओर देख कर तनिक मुस्कुराकर पूछा—गिरीन्द्र बाबू को पसन्द क्यों नहीं हुआ? लड़का लिख पढ़ रहा है, अवस्था भी अच्छी है—इसीको तो सुपात्र कहते है?

शेखर ने पूछा तो सही किन्तु वह ठीक समझ सका था कि क्यो वह उसे पसन्द नही हुआ है और भविष्य में भी पसन्द नहीं होगा। किन्तु, गिरीन्द्र सहसा इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका। उसका मुख कुछ-कुछ लाल हो गया। शेखर उसे देख कर उठ खड़ा हुआ और बोला—चाचा कल माँ को लेकर पश्चिम जा रहा हूँ, ठीक समय पर खबर देना न भूल जाना।

गुरुचरण ने कहा—यह क्या बेटा! तुम्हीं लोग तो हमारे सब कुछ हो। इसके अतिरिक्त ललिता की 'माँ' के उपस्थित न रहने से तो कोई काम ही नहीं होगा। क्या कहती हो ललिता? ऐसा कह कर उसने हँसते हुए गर्दन घुमाई और कहा—वह उठ कर गई किस समय?

शेखर जल्दी बोल उठा—नहीं नहीं, यह बात नहीं, वह दूस बात है; अच्छा, ललिता, माँ का सब सामान बाँधे हैं या नहं जानती हो ?

जानती हूँ, दोपहर को मैंने ही ठीक किया है। ललिता ऐस कह एक बार फिर सब सामान ठीक से देखभाल कर ढं बन्द कर चाबी लगाने लगी।

शेखर ने कुछ काल चुप रह उसके मुख की ओर देख क मृदु कंठ से पूछा—हाँ ललिता, आगे वर्ष से मेरा क्या उपाय होगा बता सकती हो ?

ललिता आँख उठा कर बोली—क्यों ?

क्यों, यह मैं ही समझ सकता हूँ, ऐसा कह कर अपनी या को दबा देने के विचार से शेखर ने अपने शुष्क मुख पर प्रफुल्लत लाकर कहा—किन्तु, दूसरे के घर जाने के पहले कौन चीज कहं है, कहाँ नहीं है, यह मुझे दिखला कर तब जाना—नहीं तो आवश्यकता पड़ने पर कुछ भी ढूँढ़ने से नहीं पा सकूँगा।

ललिता रंज होकर बोली—जाओ—

शेखर इस पर हँसा और बोला—जाने को तो जाता हूँ, किन्तु सचमुच क्या उपाय होगा ? मुझे शौक सोलह आना है, किन्तु कुछ भी करना पार नहीं लगता। यह सब नौकरों से नहीं हो सकता। इस समय से, देखता हूँ, तुम्हारे मामा के समान होना होगा— एक कुर्ता और एक चादर संभाल कर रखना होगा। खैर, जो होगा सो होगा।

ललिता चाभी का गुच्छा मेज के ऊपर फेंक कर जल्द यहाँ से भाग गई।

शेखर चिल्ला कर बोला—कल भोर में एक बार आना।

ललिता ने सुन कर भी नहीं सुना; जल्दी-जल्दी सीढ़ी से होकर दोतल्ले पर चली आई। घर जाकर देखा कि छत के एक कोने पर चाँदनी में बैठ कर आनन्दकाली गेंदे के बहुत से फूल रख कर माला गूँथ रही है। ललिता उसके निकट जाकर बैठ गई और बोली—शीत में बैठ कर क्या कर रही हो काली ?

काली बिना सिर उठाये ही बोली—माला गूँथ रही हूँ—आज रात को मेरी कन्या का विवाह है।

क्या ? मुझे तो नहीं कहा था ?

निश्चित नहीं था मँझली बहिन। इसी समय बाबूजी ने पंजिका देख कर कहा कि आज रात को छोड़ कर इस महीने में विवाह का दिन नहीं है। कन्या बड़ी हो गई है, और अब रख नहीं सकती, जैसे-तैसे विदा कर रही हूँ। मँझली बहिन, दो रुपये दो न, जल-पान मँगाऊँ।

ललिता हँस कर बोली—रुपये लेने के समय ही मँझली बहिन। जाओ, मेरे तकिये के नीचे रखा है, ले लो। हाँ रे, काली, क्या गेंदे के फूल से विवाह होता है ?

काली गम्भीर भाव से बोली—होता है। दूसरा फूल नहीं मिलने से होता है। मैंने कितनी ही लड़कियों का विवाह किया है मँझली बहिन, मैं सब जानती हूँ। इतना कह कर जलपान मँगाने के लिए वह नीचे चली गई।

ललिता उसी जगह बैठ कर माला गूँथने लगी।

थोड़ी देर के बाद काली फिर आई और बोली—और सब को तो खबर दे दी गई है, केवल शेखर भैया को खबर नहीं दी गई

वह उसी सामा का आश्रित है—गलग्रह है। उस ओर, सम्पन्न घर में शेखर के विवाह की बात चल रही है, दो दिन आगे हो या पीछे, किन्तु विवाह एक दिन वहीं होगा। इस विवाह के उपलक्ष में नवीन राय कितने रुपये वसूल करेंगे, इस बात की आलोचना भी वह शेखर की माँ के निकट सुन चुकी है।

तब क्यों एकाएक आज इस प्रकार शेखर भैया ने उसका अपमान किया है! इन सब बातों की आलोचना शून्य दृष्टि से सामने की ओर देखती हुई ललिता अपने मन में मग्न होकर कर रही थी कि सहसा चौंक कर उसने मुख फिरा कर देखा—शेखर पीछे चुप-चाप हँस रहा है। इसके पहले ही, जिस उपाय से उसने शेखर के गले में माला पहना दी थी, ठीक उसी उपाय से वही गेंदे की माला उसके गले में लौट आई है। रोने के मतलब से उसका गला रुद्ध होने लगा; तोभी जोर कर वह विकृत स्वर में बोली—क्यों ऐसा किया?

तुमने क्यों ऐसा किया था।

मैंने कुछ नहीं किया—ऐसा कह कर जैसे ही उसने माला को तोड़कर फेंक देने के लिए हाथ बढ़ाया कि अकस्मात् शेखर की आँखों की ओर देखकर वह रुक गई। अब उसे तोड़कर फेंकने का साहस नहीं हुआ। किन्तु रोकर बोली—मुझे कोई नहीं है, यही जान कर न तुम इस प्रकार मेरा अपमान कर रहे हो।

शेखर इस समय तक मन्द-मन्द मुस्कुरा रहा था, किन्तु ललिता की बात सुन कर अवाक् हो गया। यह लड़कों का खेल-वाड़ नहीं था। शेखर ने कहा—मैंने तुम्हारा अपमान किया है या तुमने मेरा अपमान किया है?

ललिता आखें मलकर भयातुर हो बोली—मैंने कैसे अपमान किया है ?

शेखर क्षणकाल तक चुप रहकर सहज भाव से बोला—तनिक सोचने से ही तुम सब समझ सकोगी। आज कल तुम बहुत इस घर उस घर किया करती थी ललिता, मैंने विदेश जाने के पूर्व तुम्हारा वह रास्ता बन्द कर दिया है। इतना कहकर वह चुप हो रहा।

ललिता ने और कुछ जवाब नहीं दिया, माथा नीचे कर खड़ी रही। चारो ओर पूर्ण रूप से फैली हुई चाँदनी के नीचे दोनों ही स्तब्ध रह गये। केवल, नीचे से काली की गुड़िये के विवाह के शंख का शब्द सुनाई पड़ने लगा।

कुछ क्षण मौन रहकर शेखर ने कहा—शीत मे अधिक मत रहो, नीचे जाओ।

जाती हूँ—कह कर कुछ देर बाद उसके पैर के नीचे गिरकर ललिता ने प्रणाम किया, और तब उठकर खड़ी हो धीरे-धीरे पूछा—मै अब क्या करूँगी, यह बताकर जाओ।

शेखर हँसा। फिर एक बार तनिक इतस्ततः किया; और तब दोनो हाथ बढ़ाकर उसको हृदय की ओर खींच लिया और झुककर अपने अधर से उसका अधर स्पर्श कर बोला—कुछ भी बताना नही होगा ललिता, आज से अपने ही सब समझ सकोगी।

ललिता का सारा शरीर रोमांचित हो काँप उठा, वह हट कर खड़ी हो गई और बोली—मैने अकस्मात् तुम्हारे गले मे माला पहना दी है, इसी से क्या तुमने ऐसा किया ?

शेखर ने हँस कर माथा हिलाया और कहा—नही, मैं बहुत

गुरुचरण के घर जाने-आने के रास्ते को एक दीवाल खड़ी करा के बन्द कर दिया।

यह समाचार बहुत दूर में प्रवास करती हुई भुवनेश्वरी को शेखर द्वारा मालूम हुआ और वह इसपर रो पड़ी। रोकर उसने कहा—शेखर, ऐसी बुद्धि उसे किसने दी?

ऐसी बुद्धि उसे किसने दी थी, इस बात का अनुमान शेखर ने अवश्य ही कर लिया था; किन्तु इसका उल्लेख न कर बोला—किन्तु, माँ, दो दिन बाद तुम्हीं लोग तो उसे जातिच्युत कर देते। इतनी लड़कियों का विवाह वे किस प्रकार करते, यह तो मैं समझ ही नहीं सकता।

भुवनेश्वरी ने गर्दन हिला कर कहा—कुछ भी रुका नहीं रहता, शेखर। और इस लिए यदि जाति देना आवश्यक हो, तो अनेक को जाति देना होगा। भगवान ने जिसे संसार में भेजा है उसका भार भी वही लेते हैं। शेखर चुप हो रहा। भुवनेश्वरी आँख पोंछती हुई बोली—मैं यदि ललिता बेटी को साथ लाती तो जैसे होता मुझे भी एक उपाय करना ही होता—और उपाय करती ही। मैं तो नहीं जानती; किन्तु सम्भव है, गुरुचरण ने इसी मतलब से उसे नहीं भेजा। मैंने समझा था, उसका सचमुच ब्याह हो रहा है।

शेखर माँ के मुख की ओर देखकर तनिक लज्जित हो बोला—अच्छा तो माँ, इस बार घर जाकर ऐसा ही क्यों नहीं करतीं? वह तो ब्याह नहीं हुई है—उसके मामा ही हुए हैं—और वे भी तो उसके यथार्थतः कोई अपने नहीं हैं। ललिता का कोई नहीं है, इसी लिए तो वह उनके घर में रह कर पाली जा रही है।

भुवनेश्वरी सोच कर बोली—सो तो हो सकता है, किन्तु
तुम्हारे पिता निराले ढंग के आदमी हैं, वे किसी तरह राजी होंगे
ही नहीं; यदि हो सका तो उन लोगों के साथ देखा-देखी तक
करने नहीं देंगे।

शेखर के मन में भी इस बात की पूरी आशंका थी, वह विना
कुछ बोले वहाँ से उठकर चला गया।

इसके बाद एक मिनट भी विदेश में रहने की उसे इच्छा नहीं
रही। दो तीन दिनों तक चिन्तित और अप्रसन्न मुख हो इधर-
उधर घूम कर एक दिन सन्ध्या समय डेरे पर आकर बोला—अब
और अच्छा नहीं लगता माँ, चलो घर चलें।

भुवनेश्वरी उसी समय सहमत होकर बोली—तो चलो शेखर,
मुझे भी कुछ अच्छा नहीं लगता।

घर लौट कर माता-पुत्र दोनों ने देखा, छत होकर जो इस घर
से उस घर जाने-आने का रास्ता था वह बन्द हो गया है, और
उस जगह एक दीवार खड़ी कर दी गई है। गुरुचरण के साथ
किसी प्रकार के सम्पर्क रखने का क्या, बात-चीत तक करना भी
नवीन राय को बुरा मालूम होता है, यह किसी से विना पूछे ही
दोनों समझ गये।

रात में शेखर के भोजन के समय माँ उपस्थित थी। दो एक
दूसरी बात करने के बाद उसने कहा—उन लोगों के यहाँ गिरीन्द्र
बाबू के साथ ही ललिता को व्याह देने की बात चल रही है।
यह पहले ही समझ गई थी।

शेखर ने विना मुख उठाये ही पूछा—किसने कहा?

उसकी मामी ने कहा। दोपहर के समय जब मालिक सोये

हुए थे, तब मैं ही वहाँ जा कर उन लोगों को देख आई। उस समय रोते-रोते बहू की आँखे सूज गई थीं। कुछ देर रह कर भुवनेश्वरी ने स्वयं अपनी दोनों आँखे पोंछ कर कहा भाग्य, शेखर, भाग्य। इस भाग्य की बात कोई भी नहीं सकता—और किसका दोष दूँ ? बोलो ! जो हो, गिरीन्द्र ल अच्छा है, अच्छी संगति भी है, ललिता को कष्ट नहीं होगा—ऐ कह कर वह चुप हो रही।

शेखर ने इसका कुछ भी जवाब नहीं दिया—केवल सि नीचे कर खाने की चीजों को इधर-उधर करने लगा। कुछ बाद माँ उठ कर चली गई, वह भी उठ कर हाथ-मुह धो बिछावन पर लेट गया।

दूसरे दिन सन्ध्या के बाद थोड़ा घूम आने के विचा शेखर घर से बाहर हुआ। उस समय गुरुचरण के बाहर वाले में नित्य की तरह चाय पानी की मजलिस बैठी हुई थी यथेष्ट उत्साह के साथ हँसी-मजाक और गपशप चल रही थी यह कोलाहल जैसे ही शेखर के कानों मे पहुँचा वैसे ही स्थि होकर उसने कुछ सोचा और तब धीरे धीरे उस मकान में घु कर उस शब्द का अनुसरण करते हुए गुरुचरण के बाहर के कमरे जाकर खडा हो गया। उसी क्षण कलरव बंद हो गया। उस मुख की ओर देख कर सब के मुख का भाव परिवर्तित हो गया।

शेखर लौट आया है, यह बात ललिता को छोड़ कर और कोई नहीं जानता था। आज गिरीन्द्र और एक कोई अन्य सज्ज उपस्थित थे। वह विस्मित मुख से शेखर की ओर देखने लगे गिरीन्द्र भी अपना मुख और गम्भीर कर के दीवार की ओर ताक

गा। सबसे अधिक तो बोल रहे थे गुरुचरण स्वयं, किन्तु उनका ख अब एकमात्र ही पीला पड़ गया था। उनके बगल में बैठी लिता उस समय भी चाय तय्यार कर रही थी। उसने एक बार र उठा कर देखा और फिर सिर नीचे कर लिया।

शेखर ने और बढ़ कर चौकी के ऊपर माथा झुका कर प्रणाम या और एक किनारे बैठ कर हँस कर बोला--यह क्या, एक र ही सब कुछ बन्द हो गया।

मालूम पड़ा—गुरुचरण ने धीमी आवाज से आशीर्वाद दिया, न्तु क्या कहा—यह मालूम न पड़ सका।

उसके मन के भाव को शेखर समझ गया और उसे समय ने के विचार से स्वयं ही उसने बात आरम्भ कर दी। कल प्रात-ाल की गाड़ी से लौटने, माँ के रोग के कम होने तथा पश्चिम रहने की कुल कथा तथा अन्य दूसरी-दूसरी कथायें एक सांस वह बक गया और अन्त मे उस अपरिचित युवक के मुख की ोर ताकने लगा।

गुरुचरण ने इस समय तक अपने को बहुत कुछ सँभाल ल्या था; उस युवक का परिचय देते हुए वह बोला--यह हमारे ारीन्द्र के मित्र हैं,। एक ही जगह घर है, एकत्र ही लिखना-ढना सीखा है, बहुत ही सज्जन युवक हैं—श्याम बाजार मे हते हैं, तोभी मुझ से एक बार बातचीत होने के बाद से वे प्रायः ी आकर भेंट-मुलाकात कर जाते हैं।

शेखर ने गर्दन हिला कर मन ही-मन कहा—हाँ, बड़े ही च्छे युवक हैं। इसके बाद कुछ क्षण चुप रह कर कहा--चाचा, ौर सब समाचार तो अच्छा है?

बालक

हिन्दी में बालकों के लिए अद्वितीय सचित्र मासिक पत्र

सम्पादक—पं० रामवृक्षशर्मा बेनीपुरी

वार्षिक मूल्य ३)   नमूना ।)

प्रतिमास ४८ पृष्ठ और ३०-३२ चित्र

आज तक हिन्दी में जितने बालोपयोगी पत्र निकल चुके हैं या निकलते हैं, उनसे इसमें अनेक विशेषताएँ हैं। बँगला, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी आदि उन्नत भाषाओं के बालोपयोगी पत्रों के सामने रखने योग्य अभी तक इसके सिवा कोई पत्र राष्ट्र-भाषा हिन्दी में नहीं निकला। इसके अन्दर बालकों की ज्ञानवृद्धि और मनोरंजन के सभी प्रकार के साधन उपस्थित हैं। इसमें १६ स्थायी सचित्र शीर्षक हैं, जिनमें विविध शिक्षाप्रद सामयिक विषयों के समावेश किया गया है, जिनसे प्रति मास बालकों को भिन्न-भिन्न भाँति की लाभदायक बातें मालूम हो जाती हैं। छपाई, सफ़ाई, शुद्धता और सुन्दरता तथा भाषा की सरलता और विषयों के चुनाव पर इतना काफी ध्यान दिया जाता है कि इसका नियमित रूप से पढ़ने वाला बालक थोड़े दिनों में विविध उपयोगी ज्ञानों का भण्डार बन जायगा। 'विज्ञान' 'बहादुरी की बातें' 'केसर की क्यारी' 'जीवजन्तु' 'इतिहास' 'अनोखी दुनिया' 'वह कौन है'? 'बुढ़िया की कहानी' 'पँचमेल मिठाई' 'पूछताछ' 'भला-चंगा' 'हँसी खुसी' 'क्यों और क्या' 'बालक की बैठक' 'बालचर' और 'सम्पादक की झोली'—इन १६ स्थायी शीर्षकों में से पहले से नवीन

युग के चमत्कारपूर्ण आविष्कारों की चर्चा, दूसरे में वीर पुरुषों की अलौकिक करामातें, तीसरे में संसार के महापुरुषों के चुने हुए उपदेशपूर्ण वाक्य, चौथे में संसार के नाना प्रकार के जीवों का परिचय पाँचवें में इतिहास की महत्वपूर्ण कथायें, छठें में संसार के अद्भुत समाचारों का संग्रह, सातवें में महापुरुषों की जीवनियाँ, आठवें में दिलचस्प कहानियाँ, नवें में पाँच उन्नत भाषाओं के प्रसिद्ध पत्रों से चुने हुए बालोपयोगी विषयों का संकलन, दसवें में बालकों के चित्त में कौतूहल उत्पन्न करने वाले मनोरंजक प्रश्नों के उत्तर, ग्यारहवें में स्वास्थ्य सम्बन्धी जानने योग्य लाभदायक बातें तथा देशी और विदेशी पहलवानों की अनेक चित्रों से सुसज्जित जीवनियाँ, बारहवें में शुद्ध विनोदपूर्ण रसीले चुटकुले, तेरहवें में देश-देशान्तर का भौगोलिक वर्णन, चौदहवें में मनोहर बुझौवल और पहेलियाँ, पन्द्रहवें में सेवासमिति और स्काउटिंग सम्बन्धी बुद्धिवर्द्धक लेख, तथा सोलहवें में बालकों को सम्पादक की ओर से दी गई अमूल्य शिक्षायें रहती हैं। उक्त सभी विषयों के समावेश के साथ-साथ इस बात का ध्यान रखा जाता है कि ऐसी एक बात भी न हो जिससे बालकों का वास्तविक हित न हो। यही कारण है कि सभी पत्रों और विद्वानों ने मुक्त कंठ से इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यदि आप अपने बालकों का सच्चा कल्याण चाहते हैं, उनके जीवन को मंगल और आनन्द से भरपूर बनाना चाहते हैं, तो इस 'बालक' द्वारा उनके ज्ञान का खजाना भरिये।

छपाई की शुद्धता, स्वच्छता और सुन्दरता दर्शनीय !
सम्पादनशैली सराहनीय !!

सुन्दर-साहित्य-माला

१—पद्य-प्रसून

रचयिता—कवि-सम्राट् पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय

हिन्दी का सुप्रसिद्ध मासिक पत्र 'चाँद' लिखता है—भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखी हुई कविताओं का यह सुन्दर संग्रह है। कवितायें सभी रसमयी हैं। शिक्षा के साथ-साथ उनसे हृदय को अपूर्व शान्ति और आनन्द भी प्राप्त होता है। उपाध्यायजी की मधुर कविताओं का यह सुन्दर संग्रह हिन्दी-साहित्य का एक देदीप्यमान रत्न है—इसमें सन्देह नहीं।

अखिल-भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की मासिक मुख-पत्रिका 'सम्मेलन पत्रिका' लिखती है—कविवर उपाध्यायजी के सरस पद्यों का यह एक सुन्दर संग्रह है। हिन्दी-संसार को उपाध्यायजी की रचना पर अभिमान है। वह एक युग के कवि हैं। उन्हीं की सुन्दर कविताओं का इसमें संकलन किया गया है। प्रकाशक ने वास्तव में प्रशंसनीय कार्य किया है। हम उन्हें बधाई देते हैं। पृष्ठ संख्या लगभग ३००, सचित्र, सजिल्द, मूल्य १॥)

२—दाग़े जिगर

लेखक—साहित्य-भूषण श्रीरामनाथलाल 'सुमन'

भूमिका-लेखक—उपन्यास-सम्राट् श्रीयुत प्रेमचन्दजी बी० ए०

प्रेमचन्दजी ने इस पुस्तक की भूमिका में लिखा है—हज़रत

जिगर की कविता उस वाटिका के समान है, जो सब प्रकार के फूलों से भरी हुई हो। 'सुमनजी' की टिप्पणियाँ 'जिगर' के कलाम के साथ सोने में सुगंध हो गई हैं। वह कवि भाग्यवान् है, जिसे कोई चतुर पारखी मिल जाय और इस लिहाज़ से हज़रत जिगर अवश्य भाग्यशाली कवि हैं। आशा है, हिन्दी-संसार इस पुस्तक का यथोचित आदर करेगा।

कवि की जीवनी के साथ साथ उसकी उत्तमोत्तम रचनाओं की तुलनात्मक आलोचना भी है। अन्त में कठिन फारसी शब्दों के हिन्दी-सरलार्थ भी दिये गये हैं।

पृष्ठ-संख्या लगभग २५०, सजिल्द, मूल्य १।)

३—निर्माल्य

रचयिता—कविरत्न पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'

इस पुस्तक में छायावाद की भावमयी ललित कविताओं का सुसम्पादित संग्रह है। वियोगीजी छायावाद की कविता में कवीन्द्र रवीन्द्र के अनुगामी हैं। आपकी कविता कितनी मधुर और कैसी चमत्कारपूर्ण होती है, यह हिन्दी-संसार को भलीभाँति मालूम है। आप माधुरी-पदक प्राप्त कर चुके हैं। इस पुस्तक के विषय में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व सभापति सुसमालोचक पं० जगन्नाथप्रसाद जी चतुर्वेदी लिखते हैं—निर्माल्य के निरीक्षण से सुरसिकों को सन्तोष हुए बिना न रहेगा। निरवद्य पद-रचना-चातुर्य्य और माधुर्य्य के अतिरिक्त सुन्दर सूझ, मर्मस्पर्शी कल्पना, भव्य भाव, तथा नूतनत्व के निदर्शन का दर्शन स्थान-स्थान पर हो जाता है।

पृष्ठ लगभग १५०, रेशमी जिल्द पर सोने के अक्षर। आयल
रर का आवरण। चमकीला बुकमार्क। सजावट अप-टु-डेट। मू० १)

४—महिला-महत्व

लेखक—बाबू शिवपूजन सहाय

इस पुस्तक में ऐतिहासिक, सामाजिक और साहित्यिक दस
नूठी कहानियों का दर्शनीय संग्रह है। यह एक ललित, प्रसाद-
र्ण, ओजस्वी, मनोरंजक और सर्वांगसुन्दर गद्य-काव्य है। इसकी
त्ताकर्षक वर्णनशैली, कवित्वमयी भाषा, अनल्प-कल्पनामयी रचना-
शी, अजस्र-भाव-प्रवाह और मनोमुग्धकर स·सता का रसास्वादन
र आप निश्चय ही अवाक् हो जायँगे। शब्दलालित्य, भाषासौष्ठव,
न-चातुर्य्य, रस गाम्भीर्य, कल्पना-कल्लोल और भाव-सौकुमार्य्य
ा अविरल है कि एक बार पढ़कर आप इस पुस्तक को छाती से
ाये रहेंगे। कभी प्रेम की मस्ती में झूमने लगेंगे, कभी प्राचीन
जपूती वीरता के गर्व से फूल उठेंगे, कभी कोमल-कान्त-पदावली
प्रफुल्लता पर लट्टू की तरह थिरक उठेंगे। कई बार पढ़ने पर
संतोष न होगा। गद्य-काव्य का सजीव चित्र है। पृष्ठ—२००,
द्वितीय सुन्दर छपाई। सर्वांग-सुसज्जित। मूल्य २)

५—कवि-रत्न 'मीर'

लेखक—साहित्य-भूषण श्रीरामनाथलाल 'सुमन'

भूमिका-लेखक—बाबू शिवपूजन सहाय

'दागे जिगर' की तरह उर्दू के महाकवि 'मीर' पर सुमनजी ने
: भी एक अतीव सुन्दर समालोचनात्मक ग्रंथ लिखा है। इसमें

उन्होंने हिन्दी, उर्दू और संस्कृत के कवियों की कवितायें उद्धृत कर 'मीर' की रचना की ऐसी गवेषणापूर्ण तुलनात्मक समालोचना लिखी है कि सहृदयता बरबस मुग्ध हो जाती है। 'दाग़े जिगर' की तरह इसमें भी कवि की जीवनी और उसकी उत्कृष्ट रचनाओं का सम्पादित संग्रह है। साथ ही, कठिन फ़ारसी-शब्दों के सरलार्थ भी दे दिये गये हैं। पृष्ठ-संख्या लगभग ३५०, सजिल्द, मूल्य १॥)

६—बिहार का साहित्य

इस पुस्तक में बिहार-प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के प्रथम पाँच सभापतियों के भाषणों का सुसम्पादित सुन्दर संग्रह है। साथ ही, स्वागताध्यक्षों के भी भाषण संग्रहीत हैं। सभापतियों के नाम ये हैं—(१) हास्य-रसावतार पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी (२) हिन्दी के गद्य-कवि राजा राधिकारमणप्रसादसिंह एम० ए० (३) बिहार के वयोवृद्ध सुलेखक और कवि बाबू शिवनन्दन सहाय (४) प्रोफेसर पं० सकलनारायण शर्मा, काव्य-व्याकरण-सांख्यतीर्थ, विद्याभूषण (५) भारतेन्दु के समकालीन वयोवृद्ध साहित्यसेवी पं० चन्द्रशेखरधर मिश्र। इस प्रकार इस एक ही पुस्तक में हास्यरस की सरस धारा, गद्यकाव्य का ललित प्रवाह, साहित्य-विकास का गवेषणा-पूर्ण विवेचन, हिन्दीव्याकरण की गूढ़ातिगूढ़ बातों का विद्वत्तापूर्ण स्पष्टीकरण और साहित्यिक इतिहास का सूक्ष्म अनेक पग संवलित है। इसको पढ़ कर आप बिहार के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य का गौरव स्पष्ट देख सकते हैं। ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ मनोरंजन की भी अपूर्व सामग्री है। पृष्ठ-संख्या ३००, पक्की जिल्द, पाँचो सभापतियों के चित्र। मूल्य १॥)

७—देहाती दुनिया

लेखक—बाबू शिवपूजन सहाय

इस उपन्यास मे देहाती दृश्यों का ऐसा स्वाभाविक वर्णन है कि आप पढ़कर केवल चकित और पुलकित ही नही होगे, बल्कि हँसते-हँसते लोटपोट भी हो जायँगे। सच पूछिये तो इसमे केवल मधुर और शुद्ध विनोद ही नहीं, अनेक उपदेश भी भरे पड़े है। भाषा ऐसी सरल, रसीली, रँगीली, लोचदार, फड़कती हुई, सजीव और सुबोध है कि हलवाहे और मजदूर भी खूब धड़ल्ले से पढ़कर बड़ी आसानी से समझ सकते हैं, और खूब मजा भी लूट सकते है। वर्णनशैली तो बड़ी ही हृदयग्राहिणी है और सजीव रचनाशैली भी एकदम निराले ढंग की है। बिल्कुल मुहावरेदार भाषा है। रोज़मर्रे की बोलचाल की ऐसी सीधी सादी भाषा में ऐसा मनोरंजक और शिक्षाप्रद उपन्यास आज तक हिन्दी में नहीं निकला। मजाल क्या कि एक बार पढ़कर आप अपने दस मित्रो से इसे पढ़ने के लिये साग्रह अनुरोध न करें। हम शर्तिया गारण्टी करते है कि यह मौलिक उपन्यास पढ़कर आप अवश्य ही मुग्ध हुए विना न रहेंगे। विश्वास कीजिए, 'देहाती दुनिया' की सैर करके आप निस्सन्देह अपने को कृतार्थ मानेंगे। पृष्ठ लगभग २००, सुनहले अक्षर से युक्त नये फैशन की रेशमी जिल्द, चमकीला रेशमी बुकमार्क, आयल पेपर का चिकना आवरण, मूल्य १॥)

८—प्रेम-पथ

लेखक—पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी

यह उपन्यास क्या है, प्रेम की माधुरी का अघट खजाना है।

अगर एक बार हाथ में लेकर पढ़ना शुरू कीजिये, तो खाना-पीना भूल कर इसे समाप्त किये बिना आप हरगिज़ उठ नहीं सकते। एक एक पृष्ठ पढ़ कर आप पत्थर की मूरत बन जायँगे। तारीफ़ यह है कि आप इसे ज्यों-ज्यों पढ़ते जायँगे, तीव्र उत्कंठा बढ़ती जायगी। इसमें एक सुन्दरी नवयुवती और एक शिक्षित नवयुवक का आदर्श प्रेम ऐसे शुद्ध एवं चटकीले रंग से चित्रित किया गया है कि कहीं-कहीं अनायास मुक्तकण्ठ से धन्य-धन्य कह उठना पड़ता है। विशुद्ध प्रेम कितना मधुर और कैसा आनन्ददायक होता है, उसकी चिन्तना और तर्कना में कितनी मधुरता और कैसी बिजली होती है, यह अगर देखना हो तो इसे ज़रूर पढ़िये। सब से बड़ी बात यह है कि इसमें पद-पद पर लौकिक शिक्षायें भरी हुई हैं। ऐसा सरस सामाजिक मौलिक उपन्यास अभी तक आप शायद ही पढ़े होंगे। पृष्ठ ३००, पक्की जिल्द, नये ढंग का आवरण, मूल्य २)

९—नवीन बीन

रचयिता—प्रोफेसर लाला भगवानदीन जी

इसमें कविवर दीनजी की चुनी हुई मीठी अनूठी कविताओं का परम रमणीय संग्रह है, जिनमें बीस कवितायें सचित्र हैं। कुशल शब्द-शिल्पी की रचना को चित्र शिल्पी की कुशलता ने और भी सजीव बना दिया है। कवितायें इतनी सरल और सरस हैं कि बालक भी उनमें मग्न हो जा सकते हैं। भाव तो ऐसे अनूठे हैं कि पढ़ कर तबियत फड़क उठती है। उर्दू-शैली ने कविता में और भी लोच पैदा कर दी है। कई कविताओं में लालाजी की अंग-

सनी लेखनी ने कमाल कर दिया है। अभी तक लालाजी की उत्तमोत्तम कविताओं का ऐसा सर्वाङ्गसुन्दर कोई संग्रह नहीं निकला।

पृष्ठ-संख्या लगभग १५०, बीस चित्र, सजिल्द, मूल्य २)

सुबोध-काव्यमाला

१—बिहारी-सतसई

सरल टीका सहित

केवल छ महीने में प्रथम संस्करण बिक गया

टीकाकार—पं० रामवृक्ष शर्म्मा बेनीपुरी

आज तक बिहारी-सतसई पर जितनी छोटी बड़ी टीकायें निकल चुकी हैं, उनमें सब से सरल, सस्ती और सुबोध यही है। यह नया संस्करण पहले से भी अधिक सुन्दर और परिवर्द्धित तथा परिष्कृत रूप में निकला है। दोहों का पाठ शुद्ध, उनका स्पष्ट अन्वय, सरल भाषा में भावार्थ, कठिन शब्दों के सुगम अर्थ, और नोटों में विशेष जानने योग्य बातों का उल्लेख है, जिससे विद्यार्थियों और कविता-रसिकों के लिए इसकी उपयोगिता बहुत अधिक बढ़ गई है। थोड़ा पढ़ा-लिखा आदमी भी बिहारी की रस-भरी रचना का पूरा मजा लूट सकता है। आरंभ में बाबू शिवपूजन सहाय-लिखित "सतसई का सौन्दर्य" शीर्षक एक सरस सुरुचिपूर्ण निबन्ध है, जिसमें सतसई की बारीकियाँ झलकाई गई हैं। सुन्दर कपड़े की पक्की जिल्द, पृष्ठ लगभग ४००, मूल्य तो भी १) !

विद्यापति की पदावली

सचित्र और सटिप्पण

टीकाकार—पं० रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी

भूमिका-लेखक—साहित्यरत्न पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय

संस्कृत-साहित्य में जो स्थान जयदेव का है, हिन्दी-साहित्य में वही स्थान विद्यापति का है। दोनों ही ने बड़ी सहृदयता से श्रीराधाकृष्ण के मधुर प्रेम के मनोहर चित्र खींचे हैं, जिसकी अलौकिक शोभा देखते ही बनती है। दोनों ही को अपनी मधुर भाषा की कोमल कान्त-पदावली पर अभिमान था। विद्यापति के पद इतने मधुर हैं कि वह इसी लिए मैथिल कोकिल कहे जाते हैं। उपाध्यायजी ने इस सुन्दर संग्रह की भूमिका में लिखा है—"केवल मैथिली भाषा को आपका गर्व नहीं है, बंग-भाषा और हिन्दी-भाषा-भाषी भी आपको अपनाने में अपना गौरव समझते हैं। तीन-तीन प्रान्त में समान भाव से समादृत होने का गुण यदि किसी की कविता में है, तो आप ही की कविता में। संग्रह-कर्त्ता ने उनकी उत्तमोत्तम रचना-कुसुमावली में से सरस-से-सरस सुमन संचय करने में जिस मधुप-वृत्ति का परिचय दिया है, उसकी भूयसी प्रशंसा की जा सकती है। पाद-टिप्पणियाँ तो सोने में सुगंध है।"

पृष्ठ लगभग ४००, नव चित्र, सुन्दर रेशमी जिल्द पर सोने के अक्षर रेशमी बुकमार्क और चमकीला आवरण, मूल्य ३)

नवयुवक-हृदय-हार

१—प्रेम

लेखक—नवयुवकाचार्य अश्विनी कुमार दत्त

यह अश्विनी बाबू-जैसे मार्मिक लेखक की चमत्कारपूर्ण लेखनी का अद्भुत कौशल प्रकट करनेवाली अनूठी पुस्तक है। इसके एक-एक शब्द में वह बिजली है, जो नवयुवकों के जीवन में विलक्षण शक्ति स्फुरित कर सकती है। इसे पढ़कर नवयुवक निश्चय ही भ्रष्ट मार्ग से विमुख होकर सदाचारी और आदर्श प्रेमिक बन सकते हैं, जिस पर मानव-जीवन का सुख-सौभाग्य आश्रित है। पृष्ठ १००, मूल्य ।≈), बड़ी सादगी, सफाई और सुन्दरता से छपी है। आरम्भ में अश्विनी बाबू की विस्तृत आदर्श जीवनी दे दी गई है।

२—जयमाल

लेखक—उपन्यास-सम्राट् श्रीशरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

एशिया खण्ड के यशस्वी लेखकों में शरद बाबू का बड़ा ही प्रतिष्ठित स्थान है। यह पुस्तक उन्हीं के 'परिणीता' नामक सरस उपन्यास का सरल अनुवाद है। इसके अनुवादक हैं बिहार-प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के प्रधान मंत्री बाबूरामधारीप्रसाद विशारद। इसमें ऐसी विचित्र प्रेम-कहानी है कि आप पढ़ कर तसवीर बन जायँगे। मनुष्य के अन्तःकरण के कोमल भावों का ऐसा कारुणिक एवं आकर्षक चित्र अत्यन्त विरल है। कवर पर मूल-लेखक का चित्र। शुद्ध सुन्दर स्वच्छ छपाई। मूल्य केवल छ आना। इतना सस्ता संस्करण हिन्दी में नितान्त दुर्लभ है।

३—विपंची

रचयिता—साहित्य-भूषण श्रीरामनाथलाल 'सुमन'

इसमें सुमनजी की चुनी चुनाई उत्तमोत्तम कविताओं का संग्रह है। कविताएँ ऐसी मर्मभेदिनी हैं कि पढ़कर आँखें छलछला उठें। छपाई-सफाई बिलकुल अनूठी। मूल्य ।)

४—कली

यह बिहार-प्रान्त के चार प्रतिभाशाली नवयुवक कवियों की चुनिन्दा कविताओं का संग्रह है। इसमें ऐसी-ऐसी सुभीली रचनाएँ हैं कि पढ़कर आप बरबस कलेजा पकड़ लेंगे। छपाई-सफाई दर्शनीय। मूल्य ।)

बाल-मनोरंजन-माला

बगुला भगत

लेखक—पं० रामवृक्षशर्मा बेनीपुरी ('बालक'-सम्पादक)

यह पुस्तक बालकों और बालिकाओं के लिये अत्यन्त पठनीय, विनोदपूर्ण एवं शिक्षाप्रद है। बगुला भगत की कहानी ऐसी रोचक और उपदेशजनक है कि लड़के-लड़कियाँ पढ़कर लोट-पोट हो जायेंगी और उसका प्रभाव उनके कोमल हृदय पर सदा के लिये अंकित हो जायगा। बगुला भगत की विकट माया और प्रपंच-भरी विचित्र लीला पढ़कर हँसी-खेल में ही लड़के लड़कियों की आँखों के सामने इस विलक्षण संसार का सच्चा चित्र घूम जायगा। एक बार उठाके पढ़ लें, तो निश्चय छाती से लगाये फिरें। एक तिरंगा और कई सादे चित्र, सुसज्जित छपाई-सफाई, मूल्य ।=)

सियार पाँड़े

लेखक—पं० रामवृक्षशर्मा वेनीपुरी ('बालक'-सम्पादक)

यह पुस्तक तो बालक-बालिकाओं के लिये शुद्ध हँसी और बुद्धिमानी का खजाना ही है। वे पढ़ते-पढ़ते नाच उठेंगे, खाना-पीना भूल कर इसी को पढ़ते रहेंगे। इसका कारण यह है कि इसमें केवल उनके मनबहलाव का ही सामान नहीं है, उनके ज्ञान को भी विकसित करनेवाला है—उनके दिल और दिमाग को चुटकियों में हरा-भरा कर देनेवाला अजीब नुस्खा है। इस एक ही जादू की पुड़िया से लड़के-लड़कियों का मन चंगा हो जायगा। एक तिरंगा और कई सादे चित्रों से पुस्तक की शोभा ही अनूठी हो गई है। मूल्य ।=)

महिला-मनोरंजन-माला

दुलहिन

लेखिका—श्रीमती चन्द्रमणि देवी

इस पुस्तक में नई बहुओं के लिये अमूल्य उपदेश भरे हुए हैं : जो बहुएँ अपने सगों से विलग होकर एक ऐसे स्थान में सदा के लिये चली जाती हैं, जहाँ उनका परिचित कोई नहीं और जहाँ जाते ही अपने सगे-से-सगे भी बिराने-से हो जाते हैं, उन्हीं अल्हड़ और अनाड़ी बहुओं के लिये यह पुस्तक खास तौर से लिखी गई है, ताकि वे इसे पढ़कर अपनी ससुराल वालों के साथ यथोचित प्रेम और आदर का बर्ताव कर अपने परिवार को स्वर्ग और जीवन को सुखमय बना सकें। प्रत्येक कन्या के हाथ में यह शोभा पाने योग्य है। एक एक बात अनुभव से भरी है। भाषा बोलचाल की और बहुत ही

बाबू लंगटासिंह

वर्तमान बिहार के विधाताओं में अन्यतम, नितान्त निर्धन घ[illegible] में जन्म लेकर अपने उद्योग से लखपती बन जाने वाले, मुजफ्फरपु[illegible] के भूमिहार-ब्राह्मण-कालेज के प्रतिष्ठाता का साहस और उद्योगपू[illegible] जीवन-वृत्त। पृष्ठ ५०, मूल्य ।)

शेरशाह

भारत के इतिहास का प्रसिद्ध सम्राट्, जो एक साधारण [illegible] का मनुष्य होने पर भी अपने बाहुबल और कौशल से दिल्ली क[illegible] बादशाह बन बैठा, तथा जिसने मुगल-बादशाह हुमायूँ को हिन्दुस्[illegible] से खदेड़ मारा। पौरुष और बुद्धि के संयोग से अदना आदमी [illegible] कितनी उन्नति कर सकता है, यह देखना हो तो इसे [illegible] पढ़िये। मूल्य ।)

गुरु गोविन्दसिंह

सिक्ख-धर्म के दसवें गुरु की जीवनी, जो एक महान् [illegible] धनुर्द्धर पुरुषसिंह, सिक्ख-जाति का निर्माता, पंजाब का [illegible] वीर, भारतवर्ष का एक चमकता हुआ सितारा, स्वतन्त्रता का [illegible] पुजारी, आत्माभिमान का जबरदस्त पुतला था। पढ़कर [illegible] उठेंगे। मूल्य ।)

मधु-संचय

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।
ये नमाद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥

—दंडी

मधुकर

शांतिप्रिय द्विवेदी
काशी-निवासी

प्रकाशक
हिन्दी-पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय

प्रकाशक
श्रीवैदेहीशरण
हिन्दी-पुस्तक-भंडार
लहेरियासराय
(बिहार)

प्रथम संस्करण, राखी-पूनो १९८३

मुद्रक
श्रीमहताबराय
सरस्वती प्रेस
काशी

समर्पण

उन्नतमना, सुसाहित्य-रसिक, देश-हितैषी

माननीय

श्रीराजा शारदामहेशप्रसादसिंह शाह

अगोरी–बड़हराधिपति

के

कर-कमलों में

—शांतिप्रिय द्विवेदी

लहर

हिन्दी का प्राचीन काव्य-साहित्य अथाह
इसमें सूरदास प्रेम की तरंगें उछाल रहे हैं—
कबीरदास भक्ति का स्रोत बहा रहे हैं
ी शृंगार के भँवर में चकभँवरी खेल रहे
हीं भूषण के वीर भाव लहरों में ऊँची
ं हैं। इस सागर में जहाँ कहीं गोता ल
रस-प्लावित हो जाता है।

ताब्दियों बाद इस सागर की एक धवल
पहुँची। पचासों मील दूर बैठे हुए कवीन्द्र
कबीर की आत्मा को तैरते हुए देखा।
उसमें जा मिला। आज बीसवीं शताब्दी
के हृदय की तरंगें लंदन में 'टेम्स' के व
रही हैं। अँग्रेजी-साहित्य ने रवीन्द्र के
द्वारा हिन्दी काव्य के इस अथाह क्षीर-स
है। हमारी आँखें वह दिन भी देखने
है, जब 'टेम्स' के वक्षस्थल पर सूर, तुलसी

लहर

हिन्दी का प्राचीन काव्य-साहित्य अथाह क्षीर-सागर है। उसमें सूरदास प्रेम की तरंगें उछाल रहे हैं—तुलसीदास और कबीरदास भक्ति का स्रोत बहा रहे हैं—देव और बिहारी शृंगार के भँवर मे चकभँवरी खेल रहे है—और कहीं-कही भूषण के वीर भाव लहरों में ऊँची उठान उत्पन्न कर रहे हैं। इस सागर में जहाँ कहीं गोता लगाइये, वहीं हृदय रस-प्लावित हो जाता है।

शताब्दियो बाद इस सागर की एक धवल धारा बंगाल में जा पहुँची। पचासो मील दूर बैठे हुए कवीन्द्र रवीन्द्र ने उसमे कबीर की आत्मा को तैरते हुए देखा। उनका गद्‌गद् हृदय उससे जा मिला। आज बीसवीं शताब्दी देखती है, कबीर के हृदय की तरंगें लंदन में 'टेम्स' के वक्षस्थल पर लहरा रही हैं। अँग्रेजी-साहित्य ने रवीन्द्र के गले मे पुष्प-हार डालकर हिन्दी-काव्य के इस अथाह क्षीर-सागर की पूजा की है। हमारी आँखें वह दिन भी देखने के लिए आतुर हैं, जब 'टेम्स' के वक्षस्थल पर सूर, तुलसी, बिहारी

आदि की आत्मायें भी तैरती हुई दिखाई पड़ें! पर, यह सम्भव कैसे है? रवीन्द्र की भाँति हमें अपने इस प्राचीन अथाह सागर की गति को समयानुकूल बनाकर प्रवाहित करना चाहिये।

इस क्षीर-सागर की मिठास को कभी-कभी हम 'व्रजभाषा' के नाम से पुकारने लगते हैं। सचमुच व्रजभाषा की भाव-लहरी में वह माधुर्य और कलकल संगीत भरा हुआ है, जिसकी एकाध बूँद आज भी कलावन्त गायकों के अधरों पर चूती हुई दिखाई पड़ती है।

  

लीजिये यह एक छोटा-सा मधुपात्र। इसमें छवि और प्रेम की थोड़ी-सी बूँदें भरकर आपके थके हृदय को छकाने की भोली चेष्टा की गई है।

—शांतिप्रिय

छवि

अंग-अंग में था यौवन उच्छृंखल

किन्तु बँधा लावण्य-पाश से था वह शान्त अँचल

—निराला

भादों की भारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मन्द फुही बरसावै।
राधिका आपनी ऊँची अटा पै चढ़ी रसमत्त मलारहि गावै॥
ता समै मोहन के दृग दूरि तैं आतुर रूप की भीख यों पावै।
पौन मया करि घूँघट टारै दया करि दामिनि दीप दिखावै॥

दुहूँ मुखचंद ओर चितवैं चकोर दोउ
चितै-चितै चौगुनो चितैबो ललचात है।
हाँसनि हँसत बिन हाँसी बिहँसत मिलै
गातनि सों गात बात बातनि में बात है।
प्यारे तन प्यारी पेखि पेखि प्यारी पिय तन
पियत न खात नेकहूँ न अनखात है।
देखि ना थकत देखि देखि ना सकत 'देव'
देखिबे की घात देखि देखि न अघात है।

रस भिजये दोऊ दुहुँनि, तउ टिक रहे टरै न ,
छवि सो छिरकत प्रेम-रँग, भरि पिचकारी नैन ।

—बिहारी

छवि—सृष्टि का मधुरतम शृंगार है । रसमयी आँखो में उस मोहक शृंगार की रंगीन छाया पड़ती है । हृदय उस छाया में क्षण-भर विश्राम लेकर अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करता है । यदि सृष्टि का शृंगार छवि से न होता, तो कौन कह सकता है—संसार में नीरसता की सीमा कितनी अधिक होती !

सहृदयता और भावुकता कवि की प्यारी सहेलियाँ हैं । वह इन्हीं की आँखो से सृष्टि के मनोज्ञ शृंगार को देखता है—शब्दों में उसे भिन्न-भिन्न रंगो से चित्रित करता है—अपने शाब्दिक चित्रो द्वारा वह पृथ्वी पर स्वर्ग का बोध कराता है—हमारी आँखो को सृष्टि के शृंगार को प्यार करने का रसीला ढंग सिखाता है ।

हिन्दी के प्राचीन कवियो में से अधिकांश ने इस चित्र को राधिका और श्याम के रंगो में रँगकर संसार को भेंट किया है । वे राधिका की छवि-तुलना में पृथ्वी के प्राकृतिक सौंदर्य का निरीक्षण करते हुए धीरे-धीरे आकाश तक पहुँ-

चते है। वहाँ उनकी दृष्टि चन्द्रमा और तारों पर रुकती है—राधिका की छवि-छटा की उपमा का किंचित् आभास चन्द्रमा मे मिलता है। इसलिए उनकी सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि वहाँ ठहर नहीं पाती—वे राधिका की छवि-तुलना की तलाश में और भी ऊपर उठना चाहते हैं; क्योकि चंद्रमा की उपमा पर उन्हे बड़ा असन्तोष हो जाता है. फिर असंख्य तारों की क्या विसात जो राधिका की छवि के आगे पल-भर भी टिक सकें? एक कवि ठीक ही कहता है—

'राधे को बनाय विधि धोयो हाथ जाम्यो रंग
ताको भयो चन्द कर झारे भये तारे हैं'

इसी प्रकार एक दूसरा कवि भी कहता है—'प्यारी राधिका के प्रतिबिम्ब-सो लगत चन्द'। और कविवर 'रत्नरंग' भी इसी सुर में सुर मिलाकर कहते हैं—

सुखमा के सिन्धु को सिंगार के समुन्दर तें,
मथि के सुरूप-सुधा सुख सों निकारे हैं।
करि उपचारे तामें स्वच्छता उतारे,
तामें सौरभ-सोहाग श्री-सुहास-रस डारे हैं।
'कवि रत्नरंग' ताको मत जो निधारे तासों,
राधिका बदन-बेस विधि ने सँवारे हैं।

बदन सँवारि कै जो हाथ धोय डारे सोई,
जल भयो चन्द कर झारे भये तारे हैं ॥

अब एक तीसरा कवि इससे भी ऊँची उड़ान लेता है। वह राधिका के मुखमंडल को चन्द्रमा की दुर्दशा का कारण बतलाता है। कहता है—

आनँद को कन्द वृषभानुजा को मुखचन्द,
लीला ही ते मोहन के मानस को चोरे है।
दूजो तैसो रचिबे को चाहत बिरंचि नित,
ससि को बनावे अजौं मन को न मोरे है।
फेरत है सान आसमान पै चढ़ाय फिर,
पानिप चढ़ाइवे को बारिधि में बोरे है।
राधिका के आनन के सम ना बिलोके विधि,
टूक-टूक तोरे पुनि टूक-टूक जोरे है॥

किन्तु कविवर 'ठाकुर' की राय में ब्रह्मा ने अखिल विश्व के सुख-सन्दोह का सार-संकलन कर राधिका के मुख की रचना की है। देखिये, इस शोभा-समष्टि में कितना बड़ा आयोजन है !

कोमलता कंज तें गुलाब तें सुगन्ध लैकै
चन्द सो प्रकास लैकै उदित उजेरो है।

रूप रति-आनन सों चातुरी सुजानन सा,
नीर लै निवानन सों कौतुक निवेरो है।
'ठाकुर' विचारि कै बनायो विधि कारीगर,
रचना निहारि कान्ह होत चित चेरो है।
सोने सों सुरंग लै सवाद लै सुधा को,
वसुधा को सुख लूटि कै बनायो मुख तेरो है॥

पर, दासजी ने अपनी ठकुरानी की शोभा-सम्पत्ति दिखाने में ठाकुरजी की ठकुराई को पस्त कर दिया है। उनका विराट् आयोजन भी देख लीजिये—

विद्या बर बानी दमयन्ती की सयानी,
मंजुघोखा मधुराई प्रीति रति की मिलाई मैं।
चख चित्ररेखा कै तिलोत्तमा कै तिल लै,
सुकेसी कै सुकेस सची साहबी सोहाई मैं।
इन्दिरा उदारता औ मात्री की मनोहराई,
'दास' इन्दुमति की लै सुकुमारताई मैं।
राधे के गुमान सों समान बनितान ताके,
हेत या विधान एक ठान ठहराई मैं।

अब इसके आगे सुन्दरी-सीमन्तिनी नायिका की दिव्य छवि स्वयं देखने की चीज रह जाती है। शब्दों में रवि

उसका चित्र नहीं खींच सकता, और शायद प्रत्यक्ष चित्रों द्वारा चतुर चित्रकार भी उसे मूर्तिमान् नहीं कर सकता। यदि अपनी धारणा या कल्पना के अनुकूल वे कर भी पायें, तो उनकी हिये की आँखों को वह जँचेगा नहीं— बेचारे बड़े संकोच में पड़ जायँगे, जैसा कि महाकवि तुलसीदास ने सती-शिरोमणि सीतादेवी के सौंदर्य के विषय में कह रखा है—

जौ पटतरिय तीय महँ सीया।
जग अस जुबति कहाँ कमनीया॥
गिरा मुखर तनु अरध भवानी।
रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही।
कहिय रमा सम किमि बैदेही॥
जो छबि-सुधा-पयोनिधि होई।
परम रूपमय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू।
मथइ पानि पंकज निज मारू॥
एहि बिधि उपजइ लच्छि जब, सुंदरता-सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कबि, कहहि सीय समतूल॥

तभी तो विवश होकर कहा है—

'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'

और महाकवि केशवजी ने भी तो 'त्रिवली' को ही देख कर अपनी तान तोड़ दी है—

'ऐसी न और न और न और है

तीनि खिंचाइ दई विधि रेखै'

यद्यपि छवि की गरिमा असीम और अनिर्वचनीय है, तथापि सैलानी कवियों ने इस अपार अगाध सागर में अपनी कल्पना की किश्ती छोड़ ही दी है ! देखिये, किस प्रकार उनकी किश्ती लहरों पर नाचती चली जा रही है—

सुकुमारता

घाँघरो झीन सों सारी मिहीन सों

पीन नितम्बनि भार उठै खचि।

'दास' सुबास सिंगार सिंगारत

बोझनि ऊपर बोझ उठै मचि।

स्वेद चले मुखचंद तें च्वै

डग द्वैक धरै महि फूलन सो सचि।

जातु है पंकज-पात-बयारि सों

वा सुकुमारि को लंक लला लचि॥

× × ×

भूषन-भार सँभारिहैं, क्यों यह तन सुकुमार।

सूधे पाव न परत महि, सोभा ही के भार॥

× × ×

बारन के भार सुकुमारी के लचक लंक

राजत परजंक पर भीतर महल के।

कोमल कमल के गुलाबन के दल के

सु जात गड़ि पायन बिछौना मखमल के॥

गोराई

ऐसी गई मिलि जोन्ह की जोति में रूप की रासि न जाति बखानी
बारन तें कछु भौंहन तें कछु नैनन की छवि तें पहिचानी।

× × ×

भई जु तन छवि वसन मिलि, बरनि सकै सु न बैन।
अंग-ओप आँगी दुरी, आँगी अंग दुरै न॥

× × ×

कंचन तन घन बरन वर, रह्यो रंग मिलि रंग।
जानी जाति सुवास ही, केसरि लाई अंग॥

नख

पाँगुरी भई है मति आँगुरी निहारि चारु
उपमा न आन पैये बुद्धि यों चकोटै है।
देखि पद-नखन-उजारी तेरी मेरी आली
आज परी चाँदनी धरनि पर लोटै है॥

चरण

'चिन्तामनि' आये जाके चाँदनी-बिछौना पर
लाल मखमल को बिछौना जनु भास्यो है।

चरन धरत जाके आँगन फटिक चन्द
मानों लाल बिद्रुम-दलान बाँधि राख्यो है।

ऍंड़ी

मन्द ही चलत इन्द्रवधू के बरन होत
प्यारी के चरन नवनीत हू तै नरमै।
सहज ललाई बरनी न जाई 'कासीराम'
वाकी गति देखि-देखि मेरी मति भरमै।
ऍंड़ी ठकुराइन को नाइन गहत जब
ईंगुर सों रंग दौरि आवै दरबर मै।
दियो है कि दीबो है, बिचारै-सोचै बार-बार
बावरी-सी ह्वै रही महावरी लैं कर मै॥

× × ×

पाय महावर देन को, नाइन बैठी आय।
फिरि-फिरि जानि महावरी, ऍंड़ी मीड़त जाय॥

मंद गति

चित चाह अबूझ कहैं कितने
छवि कीनी गयन्दन की टटकी।

कवि केते कहैं निज बुद्धि उदै
यह लीनी मरालन की मटकी।
'द्विजदेव' जू ऐसे कुतर्कन में
सबकी मति यों ही फिरै भटकी।
वह मन्द चले किन भोरी भटू
पग लाखन की अँखियाँ अँटकी॥

जंघा

रूप-रस-आसन कै काम के सिंघासन हैं
केलि-कला-कौतुक की जीत मन आनिये
सौतिन को गरब गयो है देखि-देखि जिन्हें
कदली के खम्भ दोऊ उलटे प्रमानिये
'भरमी सुकवि' गज-सुंड सकुचन लागे
सौगुनी करभहू तें सोभा सरसानिये
सुघर सुढार ये सँवारी हैं बिरंचि कैधों
जंघ अलबेली के अनूप जुग जानिये।

नितंब

गान करि मदन तँबूरन उलटि धरे
कंचन-बरन दोऊ लगत सोहाये हैं।

चीकने उठौहैं मृदु बाल के नितम्ब बर
महिमा न कहि जात ऐसी छबि छाये हैं।
सोभा को समेटि औ लपेटि सब उपमान
चायन सहित निधि इनहीं बनाये हैं।
कैधो जग जीति रति आपनी दुहाई फेरि
नौबत बजाइ ये नगारे औंधाये है॥

कटि

नेही मन कटि जात लखि, प्रीतम कटि अभिराम।
करि-करि ऐसो काट वह, पायो है कटि नाम॥

× × ×

सुच्छम कटि वा बाल की, कहौ कवन परकार।
जाकी ओर चितौत ही, परत दृगन से बार॥

नाभि

सुख की नदी मे कैधो परत गँभीर भौंर
धरा को तखत पिय लोचन अरथ की।
कैधो-बरखा में रोमराजी अहै पन्नग की
कैधो खानि खुली है जवाहिर के गथ की।

'घासीराम' कैधों सौति-सुखन की भाकसी-सी
मानमई खिरकी उरज-गढ़-पथ की।
एरी मेरी वीर ! तेरी नाभी रस-भरी कैधों
द्वात करता की कै मथानी मनमथ की॥

कुच

छाई उरोजन की छवि ज्यों
'पद्माकर' देखत ही चकचौंधे।
भागि गई लरिकाई मनौ
लरिकै करिकै दुहुँ दुन्दुभि औंधे॥

× × ×

मेल के मनोरथ मथेंगे प्रेम-सागर को
साधन उतंग जुग मंदर अचल हैं।
उद्धत उमंग-भरे जौवन खिलाड़ी के ये
'शंकर' से गोल कड़े कंदुक जुगल हैं।

× × ×

वे धरैं अंग भुजंग कै भूषन
ये हू भुजंग रहैं हिय धारे।
वे धरैं चंद सँवारि कै भाल में
येऊ नखच्छद चन्द सँवारे।

संभु की औ कुच की समता
कबि-कोबिद भेद इतोई बिचारे।
संभु सकोप ह्वै जार्यो मनोज
उरोज मनोज जगावनहारे ॥

कुच-ग्रन्थि

कैधो हेम-सैल-सृङ्ग-जुग पै सिमिट राजै
घन की घटा धो पाप-पटली उरोज की ।
कैधो रतिरानी के सोहाग के सिधोरे नग-
नीलम-जड़ित सोभा अति चित चोज की ।
'श्रीकवि' धो मत्त ये मिलिन्द जुग सोये आन
पलिका बिछाय मृदु कलिका सरोज की ।
दीरघ-दृगी के उच्च कुच पै चुचुक कैधो
कैधों सुधा-कुम्भ-मुख मोहर मनोज की ॥

कंचुकी

नील कंचुकी में लसत, यों तिय-कुच कौ छाँह ।
मानो केसर-रँग भरे, मरकत-सीसी माँह ॥

पीठ

इक तरु दुइ दल होत हैं, यह अचरज की बात।
दुइ तरु कदली-जंघ में, पीठ एक ही पात॥

× × ×

जोरि रूप सुवरन रची, विधि रचि-पचि तुव पीठ।
कीन्ही रखवारी तहाँ, वेनी-व्याली दीठ॥

ग्रीवा

सुन्दर सुडौल आछी भाँति सों सुधारि करि
हरि-कर-कम्बु-सोभा वारि फेरि डारिये।
कोकिल औ पारावत करि न सकत सरि
जग में न और उपमान सो बिचारिये।
जाके कंठ मध्य पीक-दुति ऐसी सोहियत
जैसे सीसी माँह रंग जावक को डारिये॥

मुख

सूर उदित हू मुदित मन, मुख सुखमा की ओर।
चितै रहत चहुँ ओर ते, निश्चल चखनि चकोर॥

चिबुक

कुच-गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै, चली डीठि मुख चाड़।
फिरि न टरी परियै रही, परी चिबुक की गाड़॥

चिबुक-तिल

गोरे मुख पै तिल लसत, मैं जान्यो यह हेत।
रूप-खजाने को मनों, हबसी चौकी देत॥

× × ×

चिबुक-कूप-मधि डोल तिल, डारि अलक की डोरि।
दृग-भिस्ती करि कर पलक, छबि-जल भरत झकोरि॥

अधर

देखत ही बिद्रुम भये हैं जड़ रूप अरु
बिम्ब दुतिहीन भये जिनके डरनि में।
पान अंग पातरो भयो है तबहीं ते पेखि
एरी ब्रजनारी अब रहै को सरनि में॥

अधर-माधुरी

बधू-अधर की मधुरता, बरनत मधु न तुलाय।
लिखत लिखक के हाथ की, किलक ऊख ह्वै जाय॥

दन्त

कैधौं कली बेला की चमेली-सी चमक परै
कैधौं कीर कमल में दारिम दुराये हैं।
कैधौं मुकुताहल महावर में राखे रँगि
कैधौं मनि-मुकुर में सीकर सुहाये हैं।
कैधौं सातौ मंडल के मंडन मयंक मध्य
बीजुरी के बीज सुधा सींचि कै उगाये हैं।
'केसवदास' प्यारी के बदन में रदन-छवि
सोरहो कला को काटि बत्तिस बनाये हैं।

रसना

कोक-कला पढिबे की पोथी सी बनाई काम
कैधौं नवरसन की भूमि उपजाई है।
परम प्रवीन रूप भारती है मेरे जान
कंठ ते निकसि मुख-वारिज में आई है।
प्रेम की-सी जंत्र है मयंक मुख-संपुट में
पूछै कहि बोलै 'नूर' एती प्रभुताई है।
रानी षटरसन की सुबरन उरमानी मनो
एतो रससानी तऊ रसना कहाई है॥

कपोल

बरन बास सुकुमारता, सब बिधि रही समाय।
पँखुरी लगी गुलाब की, गाल न जानी जाय॥

× × ×

गोल गुदकारे कपोलों की कड़ी उपमा न दी।
पुलपुली मोयन पड़ी फूली कचौड़ी जान ली॥

कपोल-तिल

कैधों रूपरासि में सिंगार-रस अंकुरित
कैधों तम-कन सोहै तड़ित- जुन्हाई मे।
कहै 'पदमाकर' कैधौ काम-कारीगर
तुकता दियो है हेम-फरद सुहाई में।
कैधो अरबिन्द मे मलिंद-सुत सोयो आय
ऐसो तिल सोहत कपोल की लुनाई मे।
कैधो पर्यौ इन्दु में कलिन्द-जल-बिन्दु अरु
गरक गोबिन्द कैधो गोरी की गुराई मे॥

मुस्कान

ई ससि-सूरज उदित दिन-राति वेई
नखत उजेरो नभ झलकत न्यारो-सो।

वेई 'देव' दीपक समीप धरि देख्यो वेई
दून्यौ करि देख्यौ चैत-पून्यौ को उज्यारो-सो।
वेई घन-बागन बिलोके सीस-भौन वेई
हार मनि-मोती कछू लागत न प्यारो-सो।
वाही चन्द्रमुखी के सुमन्द मुसकान बिन
सब जग लागत है अधिक अँध्यारो-सो॥

नासिका

आँख से न आँख लड़ जाय इसी कारण से
भिन्नता की भीत करतार ने लगाई है।
नाक में निवास करने को कुटी 'शंकर' की
छवि ने छपाकर की छाती पै छवाई है।
कौन मान लेगा कीर-तुंड की कठोरता में
कोमलता तिल के प्रसून की समाई है।
सैकड़ों नशीले कवि खोज-खोज हारे
पर ऐसी नासिका की और उपमा न पाई है॥

नथ

कुंदन रूप अनूप विराजत ता बिच मोती की जोति जगाली।
सो 'जगदीश' बिलोकत जानि परी छबि मैं नहिं जाति निराली।

ाहि लखे तें फँसे मुनि कौसिक एक बच्यो जो रह्यो अबिनासी ।
ाजति प्यारी की नासिका में यह नत्थ किधौं मनमत्थ की फाँसी ।

नाक की लौंग

जटित नीलमनि जगमगति, सीक सुहाई नाक ।
मनो अली चम्पक-कली, बसि रस लेत निसाँक ॥

नाक का मोती

वेसरि-मोती धन्य तू, को पूछे कुल-जाति ।
पीबो करि तिय अधर को, रस निधरक दिन-राति ॥

नैन

ंज सँकोचे गड़े रहैं कीचन मीनन बोरि दयो दह नीरन ।
ास' कहै मृगहूँ को उदास कै बास दियो है अरन्य गँभीरन ।
ापुस में उपमा उपमेय ह्वै नैन ये नीदत हैं कवि धीरन ।
ंजनहूँ को उड़ाय दिये हलके कर दीन्हे अनंग के तीरन ।

× × ×

अहिरिनि मन की गहिरिनि उतरु न देइ ।
नैना करै मथनिया मन मथि लेइ ॥

कस्त्रहत आँखें

रूप-रस चाखैं, मुख रसना न राखैं
को न अभिलाषैं जोन हिय के मँझारतीं।
कहै 'पद्माकर' ये कानन बिना ही सुनैं
आनन के बानन अनोखे रंग धारतीं।
बिनु पग दौरैं, बिनु हाथन हथ्यार करैं
कोर के कटाच्छन पटा-सी भूमि मारतीं।
पाँखन बिना ही करैं लाखन ये वार आँखें
पावती जो पाँखैं तौ कहा धौं करि डारतीं।॥

पुतलियाँ

पंकज के दल द्वै पर द्वै भँवरी रस-लालच-हेत लगी हैं।
हैं नटनी सुरनायक की निरतैं चल हाव सौं भाव-पगी हैं।
बाल के नैन की पूतरियाँ निसि-बासर लाल के ही में खगी हैं।
कंचन की कल-रूप-दबीन में खोल भरी मनो नील नगी हैं।

बरुनी

कैधौं दृगसागर के आसपास स्यामताई
नाहीं ने ये अंकुर उलहि दुति वारे हैं।

कैधों प्रेम-क्यारी जुग ताके ये चहूँघा रची
नीलमनि-सरनि की बारि दुख डाढ़े हैं।
'मूरत' सुकबि तरुनी की बरुनी न होवैं
मेरे मन आवै ये बिचार चित्त गाढ़े हैं।
जेई जे निहारे मन तिनके पकरिबे को
देखो इन नैनन हजार हाथ काढ़े हैं।।

काजर

रे मन ! रीति विचित्र यह, तिय नैनन की चेत।
विष-काजर निज खाय के, जिय औरन को लेत।।

कटाक्ष

लाल के बाँकी चितौनि चुभी चित
काल्हि जो ग्वालिनी झाँकी गवाच्छन।
देखी अनोखी-सी चोखी-सी कोरनि
नोखी परैं निहरैं जित जाच्छन।
मारेई जात निहारे 'मुबारक'
ये सहजै कजरारे मृगाच्छन।
काजर दे री न एरी गँवारिन
आँगुरी तेरी कटैगी कटाच्छन।।

चितवन

अमी हलाहल मद भरे, सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि गिरत, जिहि चितवत इक बार॥

× × ×

कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैनन ही सों बात॥

भृकुटी

उन्नत उरोज यदि युगल उमेश हैं तो
काम ने भी देखो दो कमानें ताक तानी हैं।
'शंकर' कि भारती के भावने भवन पै
मोह महाराज की पताका फहरानी है।
किधौं लट-नागिनी की साँवली सँपेलियों ने
आधे विधुबिम्ब पै विलास-विधि ठानी है।
काटती हैं कालियों को काटती रहेंगी कहो
भृकुटी-कटारियों का कैसा कड़ा पानी है॥

× × ×

भृ नहीं, मैंने कहा, रतिराज के हथियार हैं।
काम के कमठा लिये लावण्य की तलवार हैं॥

कुंकुम-बिन्दु

ासिका ऊपर भौंहन के मधि कुंकुमबिन्दु मृगम्मद को कनु ।
ष्ठ तें पंख पसारि उड़्यो मुख ओर खगा लखि मोतिन को गनु ।
व' के नैन तुलान-पला धरि भाग-सुहाग के ताल तटी तनु ।
रि हियें त्रिपुरारि बँध्यो लखि हारि कै मैन उतारि धर्यो धनु ।

× × ×

कहत सबै बेंदी दिये, आँक दसगुनो होत ।
तिय-लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत ॥

कान

फूल अंबर के न कानो को बताकर चुप रहा ।
रूप-सागर के सजीले सीप हैं यो भी कहा ॥

कुंडल

लसत सेत सारी ढक्यो, तरल तर्योना कान ।
पर्यो मनो सुरसरि-सलिल, रबि-प्रतिबिम्ब बिहान ॥

भाल

भाल पर चाहक चकोरो का बड़ा अनुराग था ।
क्यो न होता चन्द्र का वह ठीक आधा भाग था ॥

अलक

कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढ़िगो इतो उद्योत ।
वंक विकारी देत ज्यों, दाम रुपैया होत ॥

× × ×

अलक 'मुबारक' तिय-बदन, लटकि परी यों साफ ।
खुसनवीस मुनसी मदन, लिख्यो कोच पर काफ ॥

× × ×

फूलन की सेज पै पौढ़ति मयंकमुखी
आय ब्रजराज ताहि औचक जगायो है ।
चौंक उठी चपला-सी हेरि चहूँ दिसि प्यारी
नैनन की सोभा मृगसावक लजायो है ।
वाही समै एक लट लटक्यौ कपोलन पै
मानों राहु चन्द्रमा पै चाबुक चलायो है ॥

केश

लामे लहकारे सटकारे सुकुमारे कारे
मृगमद धारे मखतूल कैसे तार हैं ।
तम के निवास कैधों तामस प्रकास कै
सिंगार के सरोवर में सुथरे सेवार हैं ।

मार-सिर-मौर के 'मुबारक' ये भौंर कैधो
चातुरी के चौर मन-मेचक के सार हैं।
ससि के समीप कैधों राहु की रसन-सी है
नागिन के बार कै सुहागिन के बार हैं।

माँग

कज्जल के कूट पर दीप-सिखा सोती है कि
श्याम घन-मंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है।
'शंकर' कसौटी पर कंचन की लीक है कि
तेज ने तिमिर के हिये मे तीर मारा है।
काली पाटियो के बीच मोहिनी की माँग है कि
ढाल पर खाँड़ा कामदेव का दुधारा है॥

सिन्दूर-रेखा

अरुन माँग पटिया नही, मदन जगत को मारि।
असित फरी पै लै धरी, रकत-भरी तरवारि॥

जूडा

कच समेटि कर-भुज उलटि, खये सीस पट डारि।
काको मन बाँधै न यह, जूरा बाँधनिहारि॥

वेणी

मृगनैनी की पीठ पै बेनी लसै
सुख-साज सनेह समोइ रही ।
सुचि चीकनी चारु चुभी चित मैं
भर-भौन भरी खुसबोइ रही ।
कवि 'गंगजू' या उपमा जो कियो
लखि सूरति ता श्रुति गोइ रही ।
मनो कंचन के कदली-दल पै
अति साँवरी साँपिन सोइ रही ॥

प्रेम

न पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत-भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं॥

—जयशंकर 'प्रसाद'

दहै अंग को पतंग दीप के समीप जाय
वारिज बँधाय भृंग दरद न मानई।
सुनिकै विपंची धुनि बिसिख सहै कुरंग
सती पति-संग देह-दुख को न जानई।
मनी-हीन छीन फनी, मीन बारि सों बिहीन
होइकै मलीन अति दीनता दिखानई।
चातक मयूर मन-मेह के सनेह ऊधो!
जाको लगै नेह सोई देह भलो जानई॥

जिय पै जु होइ अधिकार तो बिचार कीजै
लोक-लाज भलो-बुरो भले निरधारिये।
नैन स्रौन कर पग सबै पर-बस भये
उतै चलि जात इन्हैं कैसे कै सम्हारिये।
'हरीचंद' भई सब भाँति सों पराई हम
इन्हैं ज्ञान कहि कहो कैसे कै निवारिये।
मन मैं रहै जो ताहि दीजिये बिसारि, मन
आपै बसै जा मैं ताहि कैसे कै बिसारिये।

जाको लहि कछु लहन की, चाह न हिय में होय।
जयति जगत पावन करन, 'प्रेम' बरन यह दोय॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

संसार एक कँटीला फूल है। प्रेम उसका मधु है। इस फूल में मनोहरता की कमी नहीं—असंख्य मधुकर इसके चारों तरफ मँड़रा रहे हैं। कोई फूल की सुन्दरता पर हृदय गँवा बैठा है, तो कोई काँटों में ही उलझकर तड़प रहा है; पर वह प्रेम का मधु कितनो के हाथ लगा ?

रूप-रस-लोलुप-मधुकर ! पुष्प के अन्तरतम में पैठो—वहीं मधु जमा है।

  

इस मधु की मादकता से छके हुए जीवो को देखिये। देखिये—'मीरा' के साँवले-सलोने हृदय को, और हो सके तो चलिये लैला-मजनूँ की उस कब्र पर, जहाँ अनन्त-शय्या पर पड़े हुए प्रियतम और प्रेयसी गाढ़ालिंगन का सुख ले रहे हैं।

और भी आगे बढ़िये। यह है गोकुल की कुंज-गली। यहाँ के पत्ते-पत्ते मे पगली गोपिकायें श्याम को थिरकते हुए देख रही है—उनकी आँखों के साथ-साथ कवियों की

भावनायें भी बावली हो गई हैं। यहाँ पर किसी को घर
सुधि नहीं—

'घर-घर बाटन में, कुंजन में, बाटन में,
वहै रूप गुंज्यो अनरूप, कहा तोसों मैं ?'

सुनिये, वहीं की एक गोप-बालिका अपना परिचय
रही है—

'गोकुल में बसति न गोकुल से काम कछू
गोकुलेस ही के बस गोप की किसोरी हूं।
गोरी देह देखि कोऊ गोरी ना कहो गी मोहि
हौं तो सराबोरी स्याम-रंग ही में बोरी है ॥'

यदि इसी प्रकार संसार के प्रत्येक जीव प्रेम-मधु चख
कर प्रियतम में भूल जायँ, तो लोक और परलोक
अन्तर ही कितना रह जाय ?

रीझ

चंद को चकोर देखै निसि, दिन को न लेखै
　　चन्द बिन दिन-छबि लागत अँध्यारी है।
'आलम' कहत आली, अलि फूल हेत चलै
　　काँटे-सी कँटीली बेलि ऐसी प्रीति प्यारी है।
'कारो-कान्ह'—कहत गँवारी-ऐसी लागति है—
　　मोहि वाकी स्यामताई लागति उँज्यारी है।
मन की अटक तहाँ रूप को बिचार कहाँ?
　　रीझिबे को पैंड़ो तहाँ बूझ कछु न्यारी है॥

बला

स्यामल गहीलो गात पट चटकीलो पीलो
　　छैल गरबीलो एहि गैल ह्वै निकरिगो।
हटिगो हमारो आज धीरज हिये तें आली
　　रूप के झलाझल मैं घूँघट उघरिगो।
मन चित कहै चित बित की सुनै को भटू
　　लाज को दिवालो दृग-द्वार ह्वै निसरिगो॥

सरासरी स्याम स्याम-पूतरीन बीच बस्यो
हेरिबो हमारो तौ हमारे गरे परिगो॥

× × ×

जाके लगै गृह-काज तजै अरु मात-पिता हित नात न राखै।
'सागर' लीन है चाकर चाह कै धीरजहीन अधीन है भाखै।
व्याकुल मीन ज्यों नेह नवीन में मानो दई बरछीन की नाखै।
तीर लगै, तरवार लगै, पै लगै जनि काहू से काहू की आँखै॥

दलाली

गुनगाहक सो बिनती इतनी हक-नाहक नाहि ठगावनो है।
यहि प्रेम-बजार के चातुरी-चौक में नैन-दलाल अँकावनो है।
'कवि ठाकुर' बेगुन जौहर हैं, परखैयन सो परखावनो है।
करि सोच-विचार निहारि कै माल जमा पर दाम लगावनो है॥

लेन-देन

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकौ सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलै तजि आपनपौ झिझकैं कपटी जो निसाँक नहीं।
'घनआनँद' प्यारे सुजान सुनौ इत एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला! मन लेहु, पै देहु छटाँक नहीं॥

× × ×

मै मुरली मुरलीधर की लई
मेरी लई मुरलीधर माला।
मैं मुरली अधरान धरी
मुरलीधर कंठ धरी मेरी माला।
मै मुरली मुरलीधर की दई
मेरी दई मुरलीधर माला।
मैं मुरली मुरलीधर की भई
मेरे भये मुरलीधर माला॥

आखेट

पीर हिये की हिये में पिराय लखाय न रंचहु जानै न कोऊ।
हाय बिहाय सुहाय न और उपाय करोर तें जाय न सोऊ।
हौ तौ कहौ 'रसिकेस' अली यह काहुहि भूलि व्यथा जनि होऊ।
लोचन-बाननि को बिष ऐसो लगै इक घायल होत हैं दोऊ॥

चुमक

सासु कह्यो दधि बेचन को सु
दई दुखदाई कहाँ तें धौ 'हाँ' करी।
मोहि मिले 'नृप सम्भु' गोपाल
तमाल-तरें वह गैल जो साँकरी।

मो तन ताकि बड़ी अँखियान तें
काँकरी लै फिर मो तन घाँ करी।
काँकरी ओड़ि लई कर पै
पै करेजे कहाँ धौं गई गड़ि काँकरी॥

विषम समस्या

जाके लगै सोइ जानै व्यथा पर-पीर मैं कोउ उपहास करै ना।
'सागर' जो चुभि जात है चित्त तौ कोटि उपाय करै पै टरै ना।
नेक-सी काँकरी जाके परै वह पीर के मारे सुधीर धरै ना।
कैसे परै कल एरी भटू! जब आँखि में आँखि परै निकरै ना।

बाढ़

'देव' घनस्याम रस बरस्यो अखंड धार
पूरन अपार प्रेम पूरन सही पर्यो।
विषै-बंधु बूड़े मद मोह-सुत दबे देखि
अहंकार-मीत मरि सुरझि मही पर्यो।
आसा-त्रिसना-सी बहू-बेटी लै निकसि भागी
माया-मेहरी पै देहरी पै ना रही पर्यो।
गयो नहिं हेरो, लयो बन मैं बसेरो नेह-
नदी के किनारे मन-मन्दिर ढही पर्यो॥

चौथ का चाँद

गाँव के लोग धरैं सब नाँव
    चबाव चहूँ दिसि तें उनयो है।
भीतर 'सम्भु' सदा रहिये
    जमुना को नहाइबो छूटि गयो है।
देखत ही लगि जात कलंक,
    निसंक ह्वै काहु न अंक लयो है।
गोकुल में अरी नंदलला
अबलान को चौथि को चंद भयो है!

उलाहना

जानि नहीं पहिचानि नहीं
  दुख होत यहै यह साँवरो सोरी।
हौं तो चली जमुना-जल कों
  'कवि दूलह' सुद्ध सुभाव सों भोरी।
गाज परो ब्रज को बसिबो
  तुमहूँ सखि देखति हो बरजोरी।
मेरो गरो गहि ऐसे कहैं—
    'तुम काहे न आवती खेलन होरी?'

निछावर

सखि, तैं हूँ हुती निसि देखत ही
 जिन पै वे भई थीं निछावरियाँ।
उन पानि गह्यो हुतो मेरी जवै
 सबै गाय उठीं ब्रज-डावरियाँ।
अँसुआ भरि आवत मेरे अजौं
 सुमिरे उनकी पग-पाँवरियाँ।
कहु को हैं हमारे वे कौन लगैं
 जिनके सँग खेली हैं भाँवरियाँ॥

× × ×

ग्वारि गई एक हाँ की उहाँ
 मन रोकि सु तौ मिस कै दधि-दान को।
वा सों भई भरि भेंटी भुजा पुनि
 नातो निकास्यो कछू पहिचान को।
आई निछावरि कैं मन मानिक
 गोरस दै रस लै मधुपान को।
वाही दिना तैं हिये मैं गड्यौ
 वह डीठ बड़ी बरसी अँखियान को॥

× × ×

कोई कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ
कोई कहौ रंकिनी कलंकिनी कुनारी हौं।
कैसे यह लोक नर-लोक बर लोकनि मैं
लीन्ही मै अलोक लोक-लोकनि ते न्यारी हौं।
तन जाउ, मन जाउ, 'देव' गुरुजन जाउ
जीव किन जाउ, टेक टरति न टारी हौं।
बृन्दाबन वारी वनवारी की मुकुट वारी
पीतपट वारी वहि मूरति पै वारी हौं॥

× × ×

जो गहि कै हाथ ऊधो! जोगहि सिखावत हौ
सो तौ मन हाथ ब्रजनाथ साथ कै चुकीं।
देव पंचसायक नचायो खोलि पंचन मैं
पंचन की लाज पंचामृत लौं अचै चुकी।
कुलवधू ह्वै कै हौऽब, कुलटा कहाईं अरु
गोकुल मैं कुल मैं कलंक सिर लै चुकीं।
चितहू ते हित ना हमारो अहै और सो तो
वाही चितचोर को चितौत चित्त दै चुकी॥

दर्शनोत्कंठा

धारत ही बन्यो ये ही मतो

गुरु लोगन को डर डारत ही बन्यो ।

हारत ही बन्यो हेरि हियो

'पद्माकर' प्रेम पसारत ही बन्यो ।

वारत ही बन्यो काज सबै

बरु यों मुखचन्द निहारत ही बन्यो ।

टारत ही बन्यो घूँघट को पट

नंद-कुमार निहारत ही बन्यो ॥

× × ×

साँकरी गैल वा खोरि हमें किन

खोरि लगाय खिसैबो करो कोउ ।

धीरज 'देव' धरो सो धरो

अधराधर दंत पिसैबो करो कोउ ।

हाय नहीं करिहैं कबहूँ

जिय-घाव पै लोन घसैबो करो कोउ ।

रूप हमें दरसैबो करो

अरसैबो करो कि रिसैबो करो कोउ ॥

स्वप्न-दर्शन

छहरि-छहरि झीनी बूँदनि परति मानों
घहरि-घहरि घटा छाई है गगन मैं।
आइ कह्यो स्याम मोसो चलौ आज झूलिबे को
फूली ना समाई ऐसी भई हौं मगन मैं।
चाहति उठ्योई उठि गई सो निगोरी नींद
सोइ गये भाग मेरे जागि वा जगन मैं।
आँख खोलि देखौं तो न घन है न घनस्याम
वेई छाई बूँदैं मेरे आँसू है दृगन मैं॥

झूला

सावनी तीज सुहावनी को सजि
सूहे दुकूल सबै सुख साधा।
त्यो 'पदमाकर' देखे बनै, न बनै—
कहते अनुराग अबाधा।
प्रेम के हेम-हिंडोरन मैं
सरसै बरसै रस-रंग अगाधा।
राधिका के हिय झूलत साँवरो
साँवरो के हिये झूलति राधा॥

लगन

हम एक कुराह चलीं तौ चलीं
हटकौ इन्हैं ये न कुराह चलैं।
यह तौ अलि आपनो सूझनो है
प्रन पालिये सोई जो पाल पलैं।
कहि 'ठाकुर' प्रीति करी है गुपाल सों
टेरें कहैं सुनो ऊँचे गलैं।
हमैं नीकी लगी सो करी हमनैं
तुम्हैं नीकी लगो ना लगो तौ भलैं॥

तन्मय

बैर बढ़ै तें बढ़ै अति ही
अब को कहिकै कहि कौन सों जूझै।
जैसी भई हरि हेरत ही
सु तौ पिय की जिय ही गति बूझै।
बाहिर हूँ घर हू मैं सखी
अँखियान बढ़ै छबि आनि अरूझै।
साँवरो रंग रच्यो उर मैं
सिगरो जग साँवरो साँवरो सूझै॥

सन्तोष

लिखि बाँह वती, न आये सुख पावती हैं
'पद्माकर' या हिये न बात कछु 'सेवक' जतावती
विधि तें नख तें सिख लागिन कहावती हैं
भँवरे को रँग गोद दै गातन और बात न बनावती।

तिरस्कार न्यारे लाल

कानन दूसरो नाम सुनै नहि मैं भरमावती।
एक ही रंग रँगो यह डोरो।
धोखेहू दूसरो नाम कढ़ै
रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो।
'ठाकुर' चित्त की वृत्ति यही
हम कैसेहू टेक तजै नहि भोरो।
बावरी वे अँखियाँ जरि जाहि
जो साँवरो छाँड़ि निहारतीं गोरो।

सुधा

जा दिन तै निरख्यौ नँदनंदन
कानि तजी घर-बंधन छूट्यो।

लगन

र्यो।

हम एक कुराह चलीं तौ चलीं
हटकौ इन्हैं ये न की पुल टूट्यो।
यह तौ बलि आपनो संग फिरै
मन पालियै सरूप अमी-रस घूँट्यो॥
कहि 'ठाकुर' प्रीति
टरे

सिश्रगा

'देव' न देखति हौं दुति दूसरी, देखे हैं जा दिन तें ब्रजभूप मैं।
पूरि रही है वहै पुर कानन आनन ध्यानन ओप अनूप मैं।
ये अँखियाँ सखियाँ हैं हमारी सो जाइ मिलीं जल-बूँद ज्यों कूप मैं।
कोटि करो नहिं पाइएकेहूँ समाइ गईं ब्रजराज के रूप मैं॥

घूँघट

सोहत है चँदवा सिरमौर के जैसियै सुन्दर पाग कसी है
तैसियै गोरज भाल बिराजति जैसी हिये बनमाल लसी है
'रसखानि' बिलोकत बौरी भई दृग मूँदि कै ग्वारि पुकारि हँसी है
खोलि री घूँघट, खोलौं कहा, वह मूरति नैनन माँझ बसी है।

सन्तोष

आये सुख पावती, न आये सुख पावती हैं
हिय की न बात कछु 'सेवक' जतावतीं ।
कहूँ रहौ कान्हजू ! सुहागिन कहावती हैं
चाहती हैं यही, और बात न बनावती ।
जाके सुख पाये सुख पाओ तुम प्यारे लाल
वाहू सुख दीजिये न या मैं भरमावती ।
जामैं सुख पाओ तुम, सोई हम करै, यातें
हम तौ तिहारे सुख पाये सुख पावती ।।

× × ×

मको तुम एक, अनेक तुम्हैं उनहीं के विवेक बनाय बहो ।
त आस तिहारी, तिहारी उतै,बिभिचारी को नेम कबै निबहो।
न भावै 'मुबारक' सोई करो, अनुराग-लता जिन बोय दहो ।
नस्याम, सुखी रहो आनँद सो, तुम नीके रहो,उनहीं के रहो ।।

भिड़न्त

ए नँदगाँव ते आये इतै
उत आई सुता वह कौनहूँ ग्वाल की ।

त्यों 'पद्माकर' होत जुराजुरी
दोउन फाग रची एहि ख्याल की।
दीठि चली इनकी उनपै
उनकी इन पै चली मूठि गुलाल की।
दीठि-सी दीठि लगी उनकी
इनकी लगी मूठि-सी मूठि गुलाल की॥

मधु-मक्खी

धार में धाइ धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसीं न अँधेरी! अँगराइ गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न घिरीं नहिं घेरी। 'देव' कछू अपनो बस ना, रस-लालच लाल-चितै भईं चेरी। बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥

प्यास

पापी पियासे सदा ही रहे दृग पायो न मैं कछु पानिप पी को। नेकि [illegible] न भये [illegible] करै [illegible] जी को। नाहक हौं बदनाम भई, न भयो 'परमेस' मनोरथ जी को। जो कहुँ अंक में लागति री! तो कलंक को लागिबो लागत नीको।

मदिरा

धुर ते मधुर मधु रसहू बिधुर करै
मधु-रस बेधि उरु गुरु रस फूली है।
ध्रुव-प्रह्लाद-उर हुव अहलाद जासों
प्रभुता त्रिलोकहूँ की तिल-सम तूली है।
बेदम से बेद नतवारे मत वारे परे
मोहै मुनि-देव 'देव' सूली उर सूली है।
प्यालो भर दे री! मेरी सुरति कलारी तेरी
प्रेम-मदिरा सो मोहि मेरी सुधि भूली है॥

अतृप्ति

हौ तो याही सोच मैं बिचारत रही री काहे
दरपन हाथ तैं न छिन बिसरति है।
त्यों ही 'हरिचंदजू' बियोग औ सँयोग दोऊ—
एक-से तिहारे, कछू लखि ना परति है।
जानी हम जानी ठकुरानी! तेरी रीति तू तो
परम पुनीत प्रेम-पंथ बिचरति है।
तेरे नैन बीच बसी मूरति पिया की ताहि
रैन-दिन आरसी लै देखिबो करति है।

संकल्प

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै
मोहन को तन पानिप पीजै।
नेकु निहारे कलंक लगै
यह गाँव बसे कह्यो कैसे कै जीजै।
होत रहै मन यो 'मतिराम'
कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिये
अरु ह्वै मुरली अधरा-रस लीजै॥

भ्रांति

जा छिन तें 'मतिराम' कहूँ मुसकात कहूँ निरख्यो नँदलालै
ता छिन तें छिन-ही-छिन छीन ब्यथा बढ़ि बाढ़ी बियोग की बालै
पोंछनि दै कर सों किसलै गहि चूमति स्याम सरूप रसालै
भोरी भई है मयंक-मुखी भुज भेंटति है भरि अंक तमालै

परिहास

भोरहि न्योति गई ती तुम्हैं वह गोकुल-गाँव की ग्वालिनि गोरै
आधिक राति लौं 'बेनी-प्रबीन' कहा ढिग राखि करी बरजोरै

ावै हँसी हमैं देखत लालन थाल मैं दीनीं महावर घोरी।
ते बड़े बृजमंडल मैं न मिली कहूँ माँगेहू रंचक रोरी॥

चेतावनी

फागु के भीर अभीरन तें गहि गोविंद लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की 'पदमाकर' ऊपर नाई गुलाल की झोरी।
छीनि पितम्मर कम्मर तें सु बिदा दई मींड़ि कपोलन रोरी
नैन नचाय कह्यो मुसुकाय लला फिरि आइयो खेलन होरी॥

बाहु-पाश

जोबन-अनंग के उमंग भरी गोरी एक
खेलैं फाग साँवरो सो भाग तरु अरकी।
भरत गुलाल, गले देत फूल-माल बाल
दोऊ गाल लाल कै मरोरि आप सरकी।
धाइ धरी मोहन मयंकमुखी 'प्रहलाद'
अंक मैं भरत कड़-कड़ चूरी करकी।
चारों तनी तरकी, मसकि आँगी दरकी
हँसति सारी सरकी, रही न सुधि घर की॥

निहोरा

चूमों कर कंज मंजु अमल अनूप तेरो
रूप के निधान कान्ह ! मो तन निहारि दै ।
'कालिदास' कहै मेरे पास हरे हेरि हेरि
माथे धरि मुकुट लकुट कर डारि दै ।
कुँअर-कन्हैया ! मुखचंद की जुन्हैया चारु
लोचन-चकोरन की प्यासन निवारि दै ।
मेरे कर मेंहदी लगी है नन्दलाल प्यारे
लट उरझी है नेकु बेसर सँवारि दै ॥

गर्व

आँखिन में पुतरी ह्वै रहै, हियरा में हरा ह्वै सबै रस [illegible] ।
अंगन संग बसै अँगराग ह्वै, जीव तें जीवनमूरि न [illegible] ।
'देव' जू प्यारे के न्यारे सबै गुन मो मन-मानिक तें नहिं [illegible]
और तियानि तें तौ बतिया करैं मो [illegible] तें [illegible]

मधुर मान

कानन लौं [illegible] ये तुम्हारी [illegible]
मूँदे [illegible] तुम [illegible] हौ [illegible] निहारो [illegible]

न्हर हू को सुभाव यहै उनको हम हाथन ही पर मेलिहैं।
धेजू ! मानो भलो कि बुरो आँख-मूँदनो साथ तिहारे न खेलिहैं ॥

खीझ

अब मति दै री कान कान्ह की बसीठिन पै
झूठे-झूठे प्रेम के पतौअन को फेरि दै।
उरझी रही ती जो अनेक पुरखा ते सोऊ
नाते की गिरह मूँदि नैननि निवेरि दै।
मरन चहत काहू छैल पै छबीली कोऊ
हाथन उचाय बृज-बीथिन में टेरि दै।
नेह री कहाँ को, जरि खेह री भई, तो वाकी
देह री उठाइ वाकी देहरी पै गेरि दै॥

× × ×

तेरो कह्यो करि-करि जीव रह्यो जरि-जरि
हारी पाँय परि-परि तऊ तैं न की सँभार।
ललन विलोकि 'देव' पल न लगाये तब
यों कल न दीनी तै छलन उछलनहार।
ऐसे निरमोही सो सनेह बाँधि हौं बँधाई
आपु विधि बूड्यो माँझ बाधा-सिंधु निराधार।

ए रे मन मेरे! तै घनेरे दुख दीन्हे अब
एकै बार दैके तोहि मूँदि मारों एकै बार ॥

शेखी

ए अहीरवारो! तो सों जोरि कर कोरि-कोरि
विनय सुनावौं बलि बाँसुरी बजावै जनि।
बाँसुरी बजावै तो बजाव, मो बलाय जानै
बड़ी-बड़ी आँखिन नैं एकटक लावै जनि।
लावै है तौ लाव टक, 'तोष' मोसों कहा काम
परी नाम दौरि-दौरि मेरी पौरि आवै जनि।
आवै है तौ आव, हम आइबो कबूल्यो, पर
मेरे गोरे गात मैं असित गात छ्वावै जनि ॥

झिड़की

मैलो करि डारत पीत पटै
घर जान न पैये धुलायबे भावत।
लालहू मैलो है जात अरी
नित बार-ही-बार सनेह लगावत।
औरन सों मन लीनैं चोराइ
ह्यौं 'नृप-मंजुल' चैन न आवत।

तू कलपावत साँवरो रंगहि
साँवरो रंग नहीं कलपावत ॥

ललकार

आगे तो कीन्ही लगालगी लोयन
कैसे छिपै अजहूँ जो छिपावति।
तू अनुराग को सोध कियो
बृज की बनिता सब यों ठहरावति।
कौन सॅकोच रह्यो है 'नेवाज'
जौ तू तरसै, उनहूँ तरसावति।
बावरी जौ पै कलंक लग्यो, तो
निसंक ह्वै काहे न अंक लगावति ?

ताना

मुँदि गो मयंक परयंक पै परी है कहा
आजु के घरी की छिन आनँद निहारै किन ?
कहै 'पदमाकर' त्यो रंग मैं रँगीलोई
छबीले छैल ऊपर फबीले चौर ढारै किन ॥
एहो सुखदान ! प्रान-प्यान को बखान करु
प्यारी पलको से तू पगो की धूर झारै किन ?

मंगलामुखी के बँगला तैं प्रात आये इत
लालन को देखि मंगलारती उतारै किन ?

गोपन

भूलेहु नंद के भौन न जैहौं—
मैं, तू कि न केतिको सौंह दिवावै।
पाले पखेरू अनेक तहाँ
मनि-मानिक देखि सुवा डरपावै।
ओट पै लाग कहूँ पर जाय
तो मो पै न क्यौंहूँ कछू कहि आवै।
कैसी करौं रहु मो मुखचंद की
ओर चकोर जो चोंच चलावै ?

प्याली

याञ्चा

चन्द-दुति मन्द भई, फन्द मैं फँसी हौं आनि
    द्वन्द नन्द ठानै जी रे जोरे जुग पान दै।
सासु सतरैहैं, जेठ-पतनी रिसैहैं
    बंक बचन सुनैहैं, छाड़ि गर की भुजान दै।
बिनती करति रही, गिनती कहाँ लो 'देव'
    हाहा करि हारी रे रहनि कुल-कान दै।
दान दै रे जिय को, नदान निरदई कान्ह
    बसी सब रैनि, मोहि अब घर जान दै॥

× × ×

रूप अनूप दयो विधि तोहि, तो मान किये न सयान कहावै।
और सुनो यह रूप जवाहिर, भाग बड़े बिरलै कोई पावै।
'ठाकुर' सूम को जात न कोउ, उदार सुने सबही उठि धावै।
दीजै दिखाइ दयाकरि ताहिको, जो चलि दूरि तैं देखन आवै॥

संकेत

डारे कहूँ मंथनि, बिसारे कहूँ घी को घड़ा
    बिकल बगारे कहूँ माखन-मठा-मही।

भ्रमि-भ्रमि आवति चहूँघा नैं सु याही मग
प्रेम-पय-पूर के प्रवाहन मनो वही।
झरसि गई धौं कहूँ काहू की वियोग-झार
बार-बार विकल विसूरति यही-यही।
ए हो ब्रजराज ! एक ग्वारिनि कहूँ की आज
भोर ही ते द्वार पै पुकारति दही-दही॥

मान-विसर्जन

नैननि को तरसैये कहाँ लौं
कहाँ लौं हियो विरहागिन तैये ?
एको घरी न कहूँ कल पैये
कहाँ लगि प्रानन को कलपैये ?
आवै यही अब जी मैं बिचार
सखी चलि सौतिहुँ के घर जैये।
मान घटै तें कहा घटिहै
जु पै प्रान-पियारे को देखन पैये॥

वंशी

जो सिगरी ब्रजनारिन को 'मधुराज' त्रिलोक-धिन देनि हुलास सी
कानन ही ते हिये हुलसि भई बिरहागिनि ज्वाला को बिसेष बिनास सी।

पूरी भई यह सौति हमारी, करैं नित लालन के मुख बासु री।
पान करैं हरि को अधरामृत, कौन कियो तप बाँस की बाँसुरी ?

× × ×

सुनती हौ कहा भजि जाहु घरै
बिधि जाहुगी मैन के बानन मैं।
यह बंसी 'नेवाज' भरी बिष सों
बिष-सी बगरावति प्रानन मैं।
अब ही सुधि भूलिहौ भोरी भटू
भभरो जनि मीठी-सी तानन मैं।
कुल-कानि जौ आपनी राखी चहौ
दै रहौ अँगुरी दोउ कानन मैं॥

× × ×

बंसी ! तू याही ते फूँकी गई
तुही फूँकि कै मैन की आगि जगावत।
ठौर छ-सातक छेदी गई, उर—
और को छेदै दया नहीं लावत।
आप तो लेन लगी अधरा-रस
औरन को वह स्वाद बतावत।

ज्यों बड़े बंस तें आप छुटी
 बड़े बंस तें औरनहूँ को छुड़ावत ॥

बंधन

सेस महेस गनेस दिनेस
 सुरेसहु जाहि निरन्तर ध्यावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखंड
 अछेद अभेदहु बेद बतावैं।
नारद सारद औ सुक ब्यास
 रटैं पचि कै पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ
 छछिया-भर छाँछ पै नाच नचावैं ॥

प्रतीति

फूलन दै अब टेसू कदम्बनि अम्बन बौरन छावन दै री।
री मतिमन्द! मधुव्रत-पुंजन कुंजन सोर मचावन दै री।
को कहिहै सुकुमारि 'दिनेस' अजौं ! कल-कोकिल गावन दै री।
आवन दै चलिहै सब कंतहि, बीर ! बसंतहि आवन दै री।

हाव

एरी हिय-हार के बीच [illegible]
[illegible] लगी है री।

मैं तो इन द्रोहिन के पहरे रही ती सोइ
बारी खेत खायो बड़ो उलट भयो है री ॥
'ठाकुर' कहत बूझे आँसू भरि-भरि देत
तनिक न सोध देत कौन को दयो है री ।
मेरो मन मेरी आली ! मोहि यह जान परी
दृग-बटपारन के भेद मैं गयो है री ॥

प्रतिबिम्ब

बैठी तिया गुरु लोगनि मैं, रति तें अति सुन्दर रूप बिसेखी।
आयो तहाँ 'मतिराम' सो जामें मनोभव तें बढ़ि कांति उरेखी।
लोचन रूप पियोई चहैं, अरु लाजनि जात नहीं छवि पेखी।
नैन नवाइ रही हिय-माल मैं, लाल की मूरति लाल में देखी॥

बिनती

पाती लिखी सुमुखि सुजान पिय गोविंद को
श्रीयुत सलोने स्याम सुखनि सने रहौ।
कहै 'पदमाकर' तिहारी छेम छिन-छिन
चाहियतु प्यारे मन मुदित घने रहौ।

विनती इती है कै हमेसहू मुहै तौ निज
पायँन की पूरी परिचारिका गने रहौ।
या ही में मगन मन-मोहन! हमारो मन
लगन लगाइ लग-मगन बने रहौ॥

स्वाभिमान

वह बे परवाह बने तो बने
हमको इसकी परवाह का है?
वह प्रीति का तोड़ना जानते हैं
ढँग जाना हमारा निबाह का है।
कुछ नाज जफा पर है उनको
तो भरोसा हमें बड़ा आह का है।
उन्हें मान है चन्द्र-से आनन पै
अभिमान हमें भी तो चाह का है।

विरह

वियोगी होगा पहिला कवि
आह से उपजा होगा गान
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान

—सुमित्रानंदन पंत

गंग नहीं मुक्ता-भरी माँग है, चन्द नहीं यह उन्नत भाल है

नील नहीं मखतूल को पुंज है, मेघ नहीं सिर बेनी बिसाल है

भूति नहीं मलयागिरि है, बिजया है नहीं बिरहा से बेहाल है

म, रे मनोज ! सँभारि के मारियो, ईस नहीं वह कोमल बाल है

सरसिज बिनु सर, सर बिनु सरसिज, की सरसिज बिनु सूरे ?
जौबन बिनु तन, तन बिनु जौवन, की जौबन पिय दूरे !

—विद्यापति

एक प्रेमी कवि ने कह दिया है—

'लैला-लैला पुकारत बन में
प्यारी लैला बसे मेरे मन में'

जहाँ मन से मन का सम्मिलन है, वहाँ बिछोह कहाँ ? विरह का उत्ताप कहाँ ? पर ऐसे प्रेमी हृदय उस संसार में ही मिल सकते हैं, जो इस संसार की सीमा से दूर—बहुत दूर, लाखों-करोड़ों-अरबों कोस दूर है। व्रजभाषा के कवियों ने इस संसार के प्रेम और विरह का चित्र खींचा है, यहीं से हृदय धीरे-धीरे उस संसार की ओर अग्रसर होता है।

× × ×

रूप एक आकर्षण है, जिससे खिंचकर एक हृदय दूसरे हृदय से मिलने का अटूट उपक्रम करता है। सुहाग की फेनोज्ज्वल शय्या इस उपक्रम का उपसंहार करती है। यहीं से प्रेम—ममत्व की लोल तरंगों में हिल-मिलकर—विलीन हो जाना चाहता है।

जब कभी एक प्रियतम रुपहला जीव बिछुड़ जाता है, तब

प्रेमी हृदय सौ-सौ वृश्चिक-दंशन से कसक उठता है, वा पागल होकर चारों तरफ उसे खोजने लगता है। इस विक्षिप्त दशा को स्पष्ट करने में व्रजभाषा के कवियों की लेखनी ने बड़ा 'फोर्स' दिखाया है।

विक्षिप्त हृदय जब अपने प्रिय को खोजने लगता है, तब वह पवन के तीव्र सन-सन में अपने ही रुदन से स्वर भरता है, पत्रों के मर्मर-संगीत में अपना ही कंपित राग सुनता है, और सरिता के क्षुब्ध जल-शिखरों में अपना ही हाहाकार प्रतिध्वनित करता है, पक्षियों के कोलाहल में अपना ही आर्त्तनाद मिला देता है। यहाँ तक कि विश्व के कण-कण में अपनी ही जलन फूँक देता है। इस प्रकार वह धीरे-धीरे अपने-आपको सम्पूर्ण सृष्टि में विलीन कर देता है।

गुसाईं-बाबा ने तो मिथिलेश-नन्दिनी जानकी के विरह में व्याकुल श्रीरामचन्द्र की भावनाओं को इन शब्दों में अंकित कर प्रेम और विरह का सम्पूर्ण ज्ञान भर दिया है—

आश्रम देखि जानकी-हीना
भये बिकल जस प्राकृत दीना।
हा गुनखानि जानकी सीता
रूप-सील-व्रत नेम पुनीता।

लछिमन समुझाये बहुभाँती

पूछत चले लता-तरु-पाँती।

हे खग-मृग, हे मधुकर-स्रेनी !

तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ?

खंजन सुक कपोत मृग मीना

मधुप-निकर कोकिला-प्रबीना।

कुंद-कली दाड़िम दामिनी

कमल सरद-ससि अहि-भामिनी।

बरुन-पास मनोज-धनु हंसा

गज केहरि निज सुनत प्रसंसा।

स्रीफल कनक-कदलि हरषाहीं

नेकु न संक सकुच मन माहीं।

सुनु जानकी ! तोहि बिनु आजू

हरषे सकल पाइ जनु राजू।

किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं

प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं ?

विरह की ज्वाला में वह विद्युत् है, जिसने प्रकृति की जड़ वस्तुओं से भी बातें करने के लिए आत्मा में जान डाल दी है। विद्युत् की एक ही कौंद के साथ राम के हृदय में सौन्दर्य, प्रेम-

ममत्व और विरह की भावनायें सजग होकर चमक पड़ती हैं
उधर अशोक-वाटिका में सशोक बैठी हुई—'निज प
नयन दिये मन, रामचरन महँ लीन'—विरहिणी वैदे
व्याकुल होकर विरहोद्गार व्यक्त करती है—

देखियत प्रगट गगन अंगारा
अवनि न आवत एकउ तारा।
पावकमय ससि स्रवत न आगी
मानहुँ मोहि जानि हतभागी।
सुनहि विनय मम विटप असोका
सत्य नाम करु हरु मम सोका।
नूतन किसलय अनल समाना
देहि अगिनि जनि करहि निदाना।

उभय हृदय की विषम विरह-वेदना वचनातीत ही नहीं—
कल्पनातीत है। तभी तो चतुर संदेश वाहक हनुमान द्वारा—
'प्रभु संदेस सुनत बैदेही, मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही'—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा
जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं
जानु प्रीति रस एतनहि माहीं।

चार दिन की चाँदनी

कहिबे को कछू न, कहा कहियो
मग जोवत-जोवत ज्वै गयो री।
उन तोरत बार न लाई कछू
तन ते बृथा जोबन च्वै गयो री।
'कबि ठाकुर' कूबरी के बस ह्वै
रस मैं विष-बाँसी बिसै गयो री।
मनमोहन को हिलिबो-मिलिबो
दिन चारि की चाँदनी ह्वै गयो री।।

नयन-योगिनी

बरुनी बघम्बर मैं गूदरी पलक दोऊ
कोये राते बसन भगौहैं भेप रखियाँ।
बूड़ी जल ही मैं निसि-बासर ही जागै आँखें
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।
अँसुआ फटिक-माल लाल डोरे सेली पैन्हि
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिये दरस 'देव' कीजिये सँयोगिनि
सु योगिनि ह्वै बैठी हैं वियोगिनि की अँखियाँ।।

मेघ-दूत

पर-कारज देह को धारे फिरौ
परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ
सबही बिधि सज्जनता सरसौ ।
'घन-आनँद' जीवन-दायक हौ
कछु मेरियौ पीर हिये परसौ ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन
मो अँसुवान कौं लै बरसौ ॥

× × ×

फागुन को खेल है न खेल है हमारे जान
एरे पीर-कोकिल ! कहाँ लौं जाइ गाइ आइ ।
पीरकन कोऊ है विरह बीच, लागी आग !
मानैं गुन तेरो जौ, हमारे लौं सुनाइ आइ ।
'ग्वाल-कवि' लाल लौं सुजान ए हमारे पौन !
पंचबान-बानी के [illegible] [illegible] आइ ।
कै इन नैनन को नीर भरि धारन ! [illegible]
[illegible] के अंगार पै [illegible] [illegible] आइ ॥

प्रार्थना

अपनो हित मानि सुजान! सुनो, धरि कान निदान तें ऊकिये ना।
निज प्रेम के पोषनहार बिसारि अनीति झरोखन झूकिये ना।
हिय-अन्दर रावरो मन्दिर है, तेहि यों बिरहानल लूकिये ना।
हम जो हित-हीन हैं दीन हैं तौ, तुम प्रेम-प्रवीन ह्वै चूकिये ना।।

धमकी

कौल-से पानि कपोल धरे, दृग-द्वार लौं नीर भरै, हिय हारे।
चित्र चरित्र-मई-सी भई, गई लीन ह्वै दीन, टरै नहिं टारे।
रावरी लागी 'मुबारक' दीठि, न जात कही, हम जाति पुकारे।
जागिहै जीहै तो जीहैं सबै, न तो पीहैं हलाहल नंद के द्वारे।।

उपालम्भ

प्रीति करी तुमसों बदिकै निसि-बासर रूप तिहारो सराहत।
त्यों 'हरिचंद' न जानि परी हित और करी इत रीति निबाहत।
ए हो हरी, इन बातन तै अब काहे हमारो हियो नित दाहत।
पन्नग की मनि कीन्ही तुम्हैं, तुम पन्नग की केंचुरी करि चाहत।।

सँदेसा

जोग की न कहियो, बियोग की न कहियो कछू
लोग की न कहियो, न सोक सरसाइयो।

हित की न कहियो, अहित की न भाषियो जू
चित की न कहियो, नहीं चेत की चेताइयो।
पूछैं जो 'प्रवीन-बेनी' रसिक गोपाल लाल
गोपिन को हाल तो बिहाल हमि गाइयो।
ऊधो! मनभावन सों, सहज सुभावन सों
सावन सुहावन को आवन सुनाइयो॥

पत्रिका

आपनी ओर तें चाहै लिख्यो
लिखि जात कथा निज प्रीतम ओर की।
प्यारी मिलो मोहि बेगि नहीं
सहि जात बिथा तन मैं न मरोर की।
आतुरी खैंचि लगावति कंठ
कह्यो तिन आपनी चिठी निगोर की।
भोर तें राधे को. राधे लगी रट
ह्वै गई मूरति नन्दकिशोर की॥

× × ×

जोबन न [illegible] सबै [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] है।

झूठ लिखिबे की उन्हैं उपजै न लाज कछू
जाय कुवजा के बसे निलज तिया की है।
दूसरी अवधि 'द्विजदेव' राधिका के आगे
बाँचै कौन नारि जौन पोढ़ छतिया की है।
वैसेई मुखाखर कहौ तौ कहौ इहाँ ऊधो
उठि गई बृज तै प्रतीत पतिया की है॥

तुलसी-दल

सँगवारी सुनो सबै कानन दै, विरहागि के हौं तो मरी सुख मैं।
करि चेटक चन्दन बंदन रीति, निहारियो भावते के रुख मैं।
सुधि लेहिंगे 'सेवक' जात ही मेरी, पठाइहैं धावन को दुख मैं।
तजि आग सुधा गुनि पीतम की, धरि दोजियो पाती मेरे मुख मैं।

जहरीला रंग

लावति ना अंजन, मँगावति ना मृगमद
कालिंदी के कूल ना तमाल-तरे जाति है।
भावत ना घन-बन गहन बनक वेनी
बाँधेई रहति नीली सारी ना सुहाति है।
'गोकुल' तिहारी यह पाती बाँचिहै जू कौन
याहू मैं तो कारे अखरान ही की पाँति है।

जा दिन तै मिल्यो वा गँवारि गूजरी सों कान्ह
ता दिन ते कारो रंग देखे अनखाति है॥

शिथिलता

आहि कै काँपि कराहि उठी, दृग आँसुन मोचि, सँकोचि गई है।
लेकर कागद कोरे लला, लिखिबे कहँ बैठी वियोग-कथा गई।
एते में आनि कहूँ 'द्विजदेव' बसन्त बयारि कढ़ी नियरी है।
बात-की-बात में बौरी तिया, भक पीत ह्वै पाती परी कर ते च्वै।

खीझ

बरुनीन द्वै नैन झुकैं झिझकैं
मानौं खंजन मीन के जाले परे।
दिन औधि के कैसे गनौं सजनी
अँगुरीन के पोरन छाले परे।
कवि 'ठाकुर' कासों कहा कहिये
हमें प्रीति किये के कसाले परे।
जिन लालन चाह करी इतनी
तिन्हें देखिबे के अब लाले परे॥

ज्वाल

बिरह-भभूकैं तन लूकैं-सी लगी हैं अति
मनसिज-हूकैं अंग-अंगन छई रहैं।
नीर औ समीर छाँह, चन्द-चाँदनीहू निसि
सीतल सकल ज्यों त तपन तई रहैं।
'रसिक-बिहारी' कित जाऊँ हाय कासो कहूँ
दसौ दिसि देखौ तितै अनल-मई रहैं।
पावस, सरद, हिम, सिसिर, बसन्त मोहि
प्यारे बिनु सबै रितु ग्रीषम भई रहैं।।

पीड़ा

मोहि तजि मोहनै मिल्यो है मन मेरो दौरि
नैनहूँ मिले हैं देखि-देखि साँवरो सरीर।
कहै 'पदमाकर' त्यों कान मय तान भये
हौं तो रही जकि, थकि, भूली-सी, भ्रमी-सी बीर।
दई निरदई तातैं इनको न दया दई
ऐसी दसा भई जातैं कैसे धरौं मन धीर।
हो तो मनहू के मन नैनन के नैन, जो पै
कानन के कान, तो पै जानते पराई पीर।।

वर्जन

आवत चली हौ यह विषम बयारि देखु
दबे-दबे पाँयन कि बारन लरजि है।
कैलिया कलंकिनी को है री समुदाय मधु-
माती मधुपालिनि कुचालिनि गरजि है।
आज बृजरानी के वियोग को दिवस तातैं
हरे-हरे पीर बगवासिन हरजि है।
पी-पी के पुकारिबे की बोलैं क्यों न जीभन
पपीहन के जीहन त्यौं ही बावरी बरजि है॥

सीख

हरे मैन नृपति! अनीति तू न ऐसी कर
निपट निमोहि मोहि दया ना सरत है।
जै तो हौं वियोगी दीन नौकैं बान तानै अरु
डारै मन पांग विरहागिनि परत है।
नलिन-निहारी नेह निलिन हमारी चोर
मरि है अनूप नर निरखि करत है।
दैव गी न्यो हौं प्राननाथ के वियोग ही मैं
नाकहि नरिबो न धीर को धरम है॥

वसंत

मारन, उचाटन, उद्दीपन अनंग अंग
मोहिनी मुदित मानो वीर बयताली है।
जंत्र मंत्र तंत्र कूकि कोकिला भरत भूरि
सासरी समीर टोना अद्भुत ख्याली है।
सुमन सुगन्ध भव्य अलिगन सिद्ध करैं
तापै खग बोलैं 'हनुमन्त' हाँक काली है।
कामरू-कमच्छा के दुहाई-सी पराग उड़ै
बचियो री विरही! बसन्त इन्द्रजाली है॥

× × ×

को बचिहै यह बैरी बसंत पै
आवत जो बन आग लगावत।
बौरत ही करि डारत बौरो
भरे विष बैरी रसाल कहावत।
ह्वैहै करेजन की किरचैं
'कवि देवजू' कोकिल बैन सुनावत।
बीर की सौं बल-बीर बिना
उड़ि जायगो प्रान अबीर उड़ावत॥

× × ×

संग सखी के गई अलबेली
    महा सुख सों बन-बाग-बिहारन।
बाढ़े वियोग विलास नये सब
    देखत ही दै पलासन की डारन।
जानि बसंत औ कंत बिदेस
    सखी लगी बावरी-सी है पुकारन
ह्वै चलिहैं चुरियाँ चलि आव री
    आँगुरियाँ जनि लाव अँगारन॥

× × ×

पात बिन कीन्हे ऐसी भाँति गन बेलिन के
    परत न चीन्हे जे ये लरजत लुंज हैं
कहै 'पद्माकर' बिसासी या बसंत के सु
    ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंजैं हैं
ऊधो! यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजो भलो
    हरि-सों हमारे ह्याँ न फूले बन कुंज हैं
किंसुक, गुलाब, कचनार औ अनारन की
    डारन पै डोलत अंगारन के पुंज हैं

× × ×

नील पट तन पर घन से घुमाय राखौं
    दन्तन की चमक छटा-सी बिचरति हौं।
हीरन की किरन लगाइ राखौं जुगुनू सी
    कोकिला पपीहा पिक-बानी सो भरति हौं।
कीच अँसुवान के मचाय 'कवि देव' कहैं
    बालम बिदेस को पधारिबो हरति हौं।
इन्द्र कैसो धनु साज बेसर कसत आज
    रहु रे बसंत ! तोहिं पावस करति हौं।

पावस

बर्बरात बैहर प्रचंड खंड मंडल पै
    दर्बरात दामिनि की द्युति री अर्फरात।
घर्घरात घनन के मेघ आये झर्झरात
    पर्परात पानिप के बुन्दन तें जर्फरात।
भर्भरात भामिनि भवन सौंझ 'सेनापति'
    हर्बरात हाय हीय पीय-पीय बर्बरात।
चुर्मुरात खिन खिन धीर न धरत बीर
    नीर-हीन मीन ऐसी सेज पर फर्फरात।

× × ×

जल भरे झूमैं मनो भू मैं परसत आय
  दसहू दिसान घूमैं दामिनि लये-लये।
धूरि धार धूसरी सधूम के धुधारे कारे
  धुरवान धारैं धावैं छबि सों छये-छये।
'श्रीपति' सुजान कहैं घेरि-घेरि घहराहिं
  तकत अतन तन तावतें तये-तये।
लाल बिन कैसे लाज-चादर रहैगी, मोहि
  कादर करत आय बादर नये-नये।

× × ×

नियत बिलोकत ही मुनि मन डोलि उठे
बोलि उठे बरही बिनोद-भरे बन-बन।
अकल बिकल ह्वै बिकाने हैं पथिक-जन
अर्द्धमुख चातक अधोमुख मराल-गन।
'बेनी कबि' कहत मही के महाभाग भये
सुखद सँजोगिन बियोगिन के ताप गन।
कंज-पुंज-गंजन कृषी-दल के रंजन
सु आये मान-भंजन ये अंजन-बरन घन॥

× × ×

दूरि जदुराई 'सेनापति' सुखदाई
देखो आई रितु-पावस न पाई प्रेम पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी औ
दरकी सुहागिन की छोह-भरी छतियाँ।
आई सुधि बर की हिये में आनि खरकी
सुमिरि प्रानप्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मनभावन की
डग भई बावन की सावन की रतियाँ।'
× × ×

राजै रस मैं री तैसी बरसा लसै री
चढ़ी चंचला मचै री चकचौंधा कौंधा वारे री।
व्रती व्रत हारैं हिये परत फुहारैं झारैं
कछू धारैं जलधर कछू जल-धारैं री।
भनत 'कविन्द' कुंज भौन पौन सौरभ सों
काके न कँपाय प्रान परहथ पारैं री।
काम के तुका से फूल डोलि-डोलि डारैं
मन औरें किये डारैं ये कदम्बन की डारैं री॥

× × ×

बूँदें लगैं सब अंग उदौ
उलटी गति आपने पापन देखी।
पौन सों जागति आग सुनी
पै पानी-सों लागति आगि न देखी।

चन्द्रमा

सेत सरीर हिये बिष स्याम
कला फन री मन जानि जुन्हाई।
जीभ मरीचि दसों दिसि फैलति
काटत जाहि त्रियोगिनी ताई।
सीस तें पूँछ लौं गात गस्यौ
पै डसे बिन ताहि परै ना रहाई।
सेस के गोत के ऐसे हि होत है
चंद नहीं या फनिंद है माई!

× × ×

एरे मतिमन्द चन्द! धिग है अनंद तेरो
जो पै बिरहिनि जरि जात तेरे ताप तें।
तू तो दोषाकर दूजे, धरे है कलंक उर
तीसरे कपालि-सँग दैखौ सिर छाप तें।

कहै 'मतिराम' हाल जाहिर जहान तेरो
　　वारुनी के वासी भासी रवि के प्रताप तें।
सोख्यो गयो मथ्यो गयो पियो गयो खारो भयो
　　बापुरो समुद्र तो कपूत ही के पाप तें॥

×　　　　×　　　　×

सिन्धु के सपूत सुत, सिन्धुतनया के बन्धु
　　मंदिर अमन्द सुभ सुन्दर सुधाई के।
कहै 'पद्माकर' गिरीस के बसे हो सीस
　　तारन के ईस, कुल-कारन कन्हाई के।
हाल ही के बिरह बिचारि ब्रजबाल ही पै
　　ज्वाल से जगावत हो ज्वाल की जुन्हाई के।
ऐरे मतिमन्द चन्द! आवत न तोहि लाज
　　ह्वै कै द्विजराज काज करत कसाई के॥

प्यारी को परसि पौन गयो मानसर पै सु
लागत ही औरे गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भई
जल जरि गयो पंक सूख्यो भूमि दरकी॥

अश्रु-प्रवाह

ऊधोजू सँदेसो नाहिं कह्यो जाइ कहा कहैं
जैसी करी कान्ह तैसी कोऊ न करतु है।
जीव तो हमारे एक कहाँ लगि कहि परै
जीमें जिती कहौ तिती क्योंहूँ ना सरतु है।
द्वारका बसत हरि 'सुन्दर' समुद्र ही में
इहौ परवाह जाइ सिन्धु मे परतु है।
जानिहैं वे जमुना के जल ही ते जाकी ज्वाल
जलधि में पर्‌यो बड़वानल जरतु हैं।

अश्रु-ऋतु

सखी इन नैनन ते घन हारे।
बिन ही ऋतु बरषत निसि-बासर
सदा मलिन दोउ तारे।
ऊरध स्वास समीर तेज अति

सुख अनेक द्रुम टारे।
दिसन सदन करि बसे बचन-खग
दुख पावस के मारे।
ढुरि ढुरि बूँद परत कंचुकि पर
मिलि काजर सौं कारे।
मानो परन कुटी सिव कीन्ही
बिबि मूरति धरि न्यारे।
घुमिरि-घुमिरि गरजत जल छाँड़त
अँसु सलिल के धारे।
बूड़त ब्रजहिं 'सूर' को राखै
बिन गिरिवरधर प्यारे॥

[illegible] -[illegible]

मानों बिनु नीरे हि आधार बेगि ढीली जाति

फटिक-सलाका हूँ दु-राखी टेक लाइकै।

सेज की 'ऋती

नैन सलोने स्याम हरि कब आवहिंगे।

वै जो देखत राते-राते फूलन फूले डार।

हरि बिनु फूल भरी-सी लागत

झरि झरि परत अँगार।

बीनन फूल न जाउँ सखी री

हरि बिन कैसे फूल।

सुन री सखी मोहि लागत हरि बिनु

फूले फूल त्रिसूल।

जब तें पनिघट जाउँ सखी री

वा जमुना के तीर।

भरि भरि जमुना उमड़ि चलत है

इन नैनन के नीर।

इन नैनन के नीर सखी री

सेज भई घर नाउँ।

चाहत हौं ताही पर चढ़ि कै

हरिजू के ढिग जाउँ।

'सूरदास' मीनता कछू इक
जल भरि कबहूँ न छाँड़त ।

आह

'शंकर' नदी नद नदीसन के नीरन की
भाप बन अम्बर तें ऊँची चढ़ जायगी ।
दोनो ध्रव छोरन लौं पल में पिघल कर
घूम-घूम धरनी धुरी-सी बढ़ जायगी ।
झारेंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति
जारेंगे खमंडल में आग मढ़ जायगी ।
काहु विधि विधि की बनावट बचेगी नाहि
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायगी ।

पछतावा

त चली चलिवे की जहाँ, फिर बात सुहानी न गात सुहानो ।
छन साज सकै रुचि को? महराज गयो छुटि लाज को बानो ।
कर मीडति है वनिता सुनि पीतम को परभात पयानो ।
आपने जीवन को लखि अंत हु आयु की देख मिटावति मानो ।

शृंगार

सरद निसा मैं निसिनाथ की उज्यारी जोहि
　　रम्यो जाके संग मैं अनंग रस लैबे को।
थिरत न क्यों हैं कहूँ फिरत फिरो है फेर
　　बन बन व्याकुल विषाद निसरैबे को।
कीजै ना गरब अरे किंसुक-प्रसून! तो पै
　　बैठ्यो नाहिं भ्रमर सुगन्धि रस लैबे को।
मालती के विरह विकल कलिकान लै कै
　　आयो तोहि जानि कै दवागि दागि दैबे को।

कृशता

लाल बिना बिरहाकुल बाल
बियोग की ज्वाल भई झुरि झूरी।
पानी सों, पौन सों, प्रेम-कहानी सों
पान ज्यों प्रान न पोषत हू री।
'देवजू' आजु मिलाप की औधि
सो बीतत देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठायो उड़ाइबे को उड़ि
काग गरे परीं चारिक चूरी॥

म्लानता

को जानै री बीर! बिन बिरही बिरह-बिथा
हाय-हाय करि पछिताय न कछू सोहात।
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि
गोरो-गोरो मुख आज ओलो सो बिलानो जात॥

चुनौती

घहरि-घहरि घन सघन चहूँधा घेरि
छहरि-छहरि बिष बूँद बरसावै ना।
'द्विजदेव' की सौं अब चूक मत दाँव अरे
पातकी-पपीहा! तू पिया की धुनि गावै ना।